साहित्यावलोकन

विनयमोहन शर्मा

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद
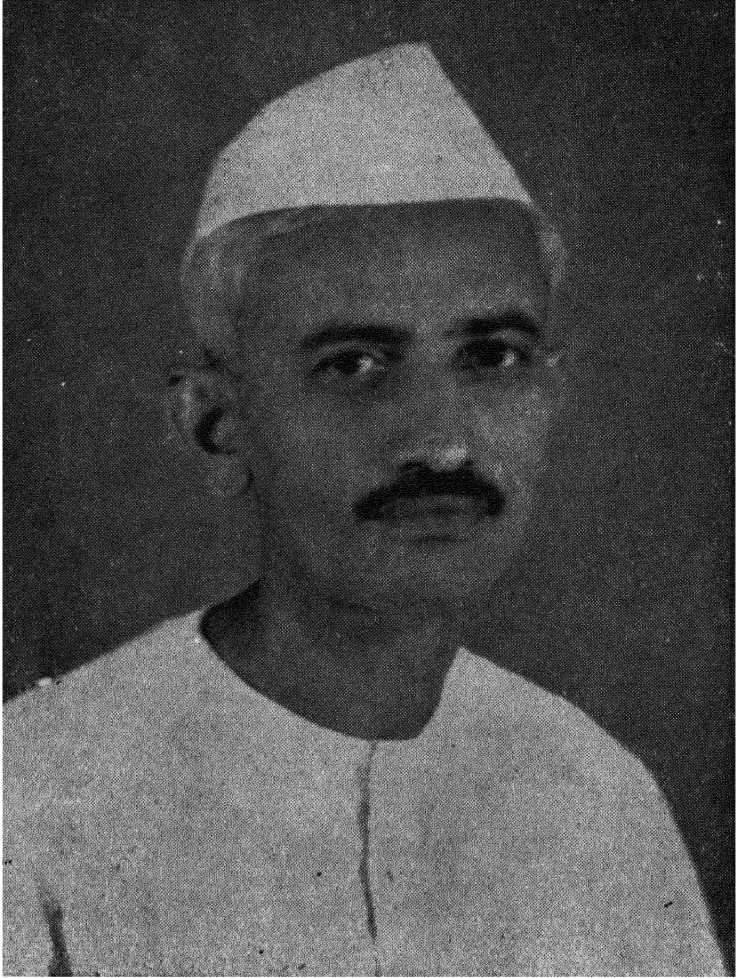
विनयमोहन शर्मा

दृष्टिक्षेप

'साहित्यावलोकन' मेरे समय-समय पर लिखित प्रकाशित-अप्रकाशित निबन्धों का पुस्तक-रूप है। इसे तीन खण्डों में विभाजित किया जा सकता है। पहला खण्ड कविता से सम्बन्ध रखता है, जिसका प्रारम्भ 'हिन्दी कविता के वाद' से होता है और अन्त 'महादेवी की कविता' से। दूसरा खण्ड गद्य के आलोचना-रूप को प्रस्तुत करता है। यह 'हिन्दी में समालोचना का विकास से प्रारम्भ होकर 'हिन्दी में सन्त-साहित्य-विवेचन' में समाप्त होता है और तीसरा खण्ड महाराष्ट्रियों की हिन्दी सेवा पर प्रकाश डालता है, जिसका पहला लेख हैं 'नामदेव और उनकी हिन्दी कविता' और अन्तिम 'मराठी नाट्यकला और रंगभूमि'। यद्यपि प्रत्येक खंड के निबन्धों में परस्पर विषय-क्रम की रक्षा का प्रयत्न किया गया है तो भी पुस्तक की आलोचनाएँ क्षेपक-सी लग सकती हैं। अन्तिम निबन्ध 'मराठी नाट्यकला और रंगभूमि' शीर्षक खण्ड के साथ जुड़ा हुआ नहीं जान पड़ता पर पढ़ने पर ज्ञात होगा कि उसमें भी मराठी भाषियों का हिन्दी-प्रेम प्रकाशित है। प्रारम्भिक मराठी-नाटकों में हिन्दी-संवादों की अत्यधिक प्रचुरता देखकर हिन्दी के व्यापक प्रभाव का परिचय होता है। 'ललित के स्वांग' में पात्र जिस प्रकार का गद्य बोलते हैं, वह आज की 'बोली' से बहुत दूर नहीं है। सत्रहवीं शताब्दी में प्रचलित हिन्दी-गद्य का क्या रूप था, इसकी झाँकी हमें इन संवादों में मिलती है। सदियों पूर्व से दक्षिण और उत्तर भारत के सन्त खड़ी बोली हिन्दी को अपनी वाणी में स्वीकार कर उसे राष्ट्रभाषा घोषित करते आ रहे हैं। यही कारण है कि १७वीं शताब्दी में भी पूना, साँगली और बंबई की मराठी भाषी जनता खड़ी बोली हिन्दी में अभिनीत 'स्वाँगों' से रस ग्रहण कर सकती थी। इस सम्बन्ध में अभी और भी अनुसंधान की आवश्यकता है।

सभी निबन्धों में विषय के साथ पूर्ण न्याय हुआ है, यह मैं कैसे कहूँ ? (यों निबन्ध में सीमा-बन्धन से विवेचन की पूर्णता सम्भव है भी नहीं) पर एक बात का मैंने यत्न अवश्य किया है कि साहित्य के अवलोकन में अपनी दृष्टि को 'वाद-ग्रस्त' होने से बचाया है। अनुभूति के सहज प्रकाश को साहित्य की कसौटी मानकर उसका रसास्वादन मेरा ध्येय रहा है। मेरे विचार और निष्कर्ष कहाँ तक मनीषियों में संचरित हो सकेंगे, कहा नहीं जा सकता। हाँ, कभी-कभी ऐसा जान पड़ा है कि कतिपय सहृदय लेखकों ने उनसे थोड़ा बहुत तादात्म्य अवश्य स्थापित किया है। 'अवधी और कृष्णायन की भाषा' शीर्षक निबन्ध इसका उदाहरण है, यद्यपि इसका उपयोग यथास्थान उल्लेख किये बिना ही मिलता है। अतः यदि इस पुस्तक की सामग्री से पाठकों की ज्ञान-स्मृति भी हरी हो सकी तो मैं अपने श्रम को अव्यर्थ समझूँगा।

अन्त में साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद के प्रकाशनाध्यक्ष श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन आवश्यक है। यदि वे आत्मीय भाव से पुनः-पुनः प्रेरित न करते तो यह कृति आज आपके हाथों में न होती।

दीपावली सं० २००१
धरमपेठ-एक्सटेंशन
नागपुर (म० प्र०)

विनयमोहन शर्मा

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

१. आधुनिक हिन्दी कविता के 'वाद'

आधुनिक हिन्दी-कविता का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग से माना जाता है और यह युग सन् १८६५ से १६०० तक जारी रहता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पूर्व हिन्दी कविता रीतिकालीन परम्पराओं से बँधी हुई थी। राधा-कृष्ण की लीलाओं की ओट में उत्तान शृङ्गार सवैयों, कवित्तों और रोला छन्दों के चौखटों में छटपटाया करता था। उस कविता का जीवन से लगाव न रह गया था। भारतेन्दु के साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होते ही कविता अपने युग को उच्छ्वसित करने लगी। हिन्दी कविता में प्रथम बार 'यथार्थवाद'[१] ने प्रवेश किया। जिन परिस्थितियों ने हरिश्चन्द्र-युग को अपने चारों ओर देखने को विवश किया वे सचमुच विस्फोटक थीं। देश विदेशी शासन के शिकंजे में बुरी तरह जकड़ा हुआ था। "राजनैतिक के अलावा आर्थिक कठिनाइयाँ (अकाल आदि के कारण) जोर के साथ सारे देश में बढ़ गई थीं। थोड़े लोगों के आलस्य और स्वार्थ के कारण बहुतों की शारीरिक यातनाएँ बढ़ रही थीं और इससे लोगों की बढ़ती हुई अशान्ति खतरे की सीमा तक बड़ी तेजी से जा रही थी।"[२]

किसान पीड़ित थे। उनके कष्टों का वर्णन मि० ह्यूम ने सर आकलेण्ड

---

[१] प्रकृत वस्तु के हूबहू चित्रण का नाम यथार्थवाद कहलाता है। इसकी उत्पत्ति अरस्तू की कला की इस व्याख्या से हुई है कि वह केवल अनुकृति (Imitation) है। मनुष्य जो कुछ अपने चारों ओर देखता है उसका चित्रण यथार्थवाद के अन्तर्गत आता है। सृष्टि के बाह्य रूप को ही नहीं, हृदय की विभिन्न अनुभूतियों को भी हम साहित्य में उतारते हैं और साहित्य का यह रूप भी यथार्थवाद ही है। यहाँ यथार्थवाद युग-प्रवृत्तियों के वर्णन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

[२] कांग्रेस का इतिहास भाग १—पृष्ठ ६

कॉलविन को लिखे अपने पत्र में किया है। उनकी (कुछ) गहरी शिकायतें यह थीं—(अ) दीवानी अदालतें असुविधाजनक और खर्चीली हैं (आ) पुलिस घूसखोर और बड़ी ज्यादती करती है (इ) तरीका लगान सख्त है (ई) शस्त्र और जंगल-कानून का अमल चुभने वाला है।"[१] यह उन्नीसवीं शताब्दी के ७० से लेकर ८० वर्ष के बीच की स्थिति है। हिन्दी के कवि अपनी आँखों के सामने होनेवाले मौन तथा मुखर चीत्कार से अप्रभावित न रह सके। सन् १८५७ के विप्लव को अंग्रेजों ने बड़ी निर्दयता के साथ कुचल दिया था। इसलिये कवियों ने यद्यपि अपने देश की दशा का यथार्थ चित्र खींचने का उपक्रम किया फिर भी राजभक्ति का क्षीण स्वर उन्होंने यदा-कदा निकाला है। इसका यह आशय नहीं कि वे खतरा नहीं मोल लेना चाहते थे। हरिश्चन्द्र को अपने स्वतन्त्र विचारों के लिये कभी-कभी तत्कालीन शासक-वर्ग का कोप-भाजन बनना पड़ता था पर उस युग में मुगल-शासन की धार्मिक असहिष्णुता से छुटकारा मिलने के कारण जनता का एक हिस्सा ऐसा अवश्य था जो सचमुच अंग्रेजी राज्य को ईश्वर की कृपा समझता था। प्रारम्भ में अंग्रेजों ने राजनीति के मामले को छोड़कर शान्ति व्यवस्था कायम करने के लिये भरसक प्रयत्न किया भी था। पुलिस की ज्यादती और मँहगे न्याय के रहते जनता पहिले के शासन से अपने को अपेक्षाकृत सुखी समझती थी (यहाँ उस जनता की ओर मेरा इशारा है जो 'कोउ नृप होउ हमें का हानी' वाली वृत्ति रखती है) तो, हरिश्चन्द्र-युग की कविता में यथार्थवाद जनता की दोनों मनोवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करता है—उसमें अंग्रेजी राज्य के प्रति संतोष[२] और

---

[१] कांग्रेस का इतिहास भाग १—पृष्ठ ६-७

[२] प्रिंस ऑफ वेल्स के स्वागत में प्रेमघन—

"स्वागत ! स्वागत ! आप हित भावी भारत भूप।
बड़े भाग सों पाइयत ऐसे अतिथि अनूप॥
पलक पाँवड़े आप हित जौपैं देहिं बिछाय।
लोचन जल पद जुगल तुव धोवैं हिय हरषाय॥" (प्रेमघन सर्वस्व, पृ० ३८७)

असन्तोष[1] दोनों दिखाई देते हैं। जनमत के शासन के अनुकूल-प्रतिकूल होने का कारण यह भी है कि उसने उस समय लार्ड लिटन का दमनकारी कठोर शासन देखा और उसके बाद घावों में मरहम लगाने वाला लार्ड रिपन का सहानुभूतिपूर्ण शासन सुख भी अनुभव किया। लार्ड रिपन उस युग का बड़ा लोक-प्रिय गवर्नर-जनरल था। हरिश्चन्द्र-काल में ही देश के नवयुवकों का पाश्चात्य सभ्यता और साहित्य से सम्पर्क बढ़ा तथा कांग्रेस, थियासाफिकल सोसायटी, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज आदि संस्थाओं की स्थापना से देश में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जागृति के चिह्न भी दिखाई दिये। कुछ लोग कहते हैं "भारत में नव जागरण का श्रेय अंग्रेज जाति को है। वस्तुतः यह एक मनोरंजक विरोधाभास है कि प्राच्य विद्याविशारद, साहित्य-स्रष्टा, पत्रकार, मिशनरी और राजनेता महानुभावों ने नवीन विश्व-सभ्यता और संस्कृति को भारत में लाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।"[2] पर हम इस मत से पूर्ण रूप से सहमत नहीं हैं। देश में आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज आदि के आन्दोलन जिन भावी द्रष्टा भारतीय साधकों ने चलाये हैं, उनका देश के नव जागरण में प्रमुख स्थान है। तिलक-केस के जज चिरोल ने तो स्पष्ट स्वीकार किया है कि देश में राष्ट्रीय चेतना का मूल भारतीय पुनरुत्थान के जातीय-धार्मिक आन्दोलनों में निहित है।[3]

समाज-सुधार को प्रेरणा देने वाले कवियों में हरिश्चन्द्र और प्रेमघन के

"जयति धर्म सब देश जय भारत भूमि नरेश
जयति राजराजेश्वरी जय जय जय परमेश"—अम्बिकादत्त व्यास

[1] "सब धन ढोयो जात विलायत रह्यो दलिद्दर छाई
अन्न-वस्त्र कहँ सब जन तरसें होरी कहा सोहाई ?"—प्रताप नारायण

[2] 'हिन्दी कविता में युगान्तर' (सुधीन्द्र) पृष्ठ ३

[3] "पढ़े जनम भर हैं फारसी, छांड़ वेद मारग दियो;
हा हा हा विधि वाम ने सर्वनाश भारत कियो।"
—राधाचरण गोस्वामी

नाम अग्रणी हैं। स्त्री-शिक्षा, बाल विवाह-विरोध, विधवा-विवाह, छुआ-छूत निवारण आदि विचारों के ये पोषक थे क्योंकि युग की गतिशील चेतना में इन्हींका प्राबल्य था। पाश्चात्य संस्कारों की आँधी से देश को बचाने की चेष्टा भी इस युग में पायी जाती है। आधुनिक हिन्दी कविता के इस काल में चूँकि अपने समय की पूरी छाप है, इसलिये हम इसमें पहिली बार 'यथार्थवाद' के दर्शन करते हैं, यह बात हम ऊपर कह आये हैं।

सन् १६०० से हिन्दी कविता में दूसरे युग का प्रारम्भ हो जाता है। यह लगभग १६२० तक रहता है। इन दो दशकों में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने डा० जानसन की तरह हिन्दी जगत् पर आधिपत्य जमा रखा था। उन्होंने कविता की भाषा को ब्रजभाषा से खड़ी बोली के रूप में परिवर्तित कर एक क्रान्ति मचा दी थी। उनका विश्वास था कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी गद्य और पद्य-की भाषा में भिन्नता नहीं होनी चाहिए। उन्होंने कविता में शृङ्गार-भावनाओं के क्रीड़ा-विलास को भी प्रोत्साहित नहीं किया। वे जाति को सबल बनाने की दृष्टि से नीति और सदाचार पर अधिक आग्रह प्रदर्शित करते थे। अतः उनका काल 'आदर्शवाद' की धारा को प्रवाहित करने वाला 'युग' कहा जाने लगा। "इस उत्थान के कवि मानवतावादी (Humanitarian Idealist) हैं। इनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक तथा उदार है और ये सत्य-न्याय के समर्थक हैं। ये प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान और न्यायोचित व्यवहार चाहते हैं। वे सामाजिक अत्याचार, राजनीतिक दासता तथा धार्मिक साम्प्रदायिकता की समान रूप से कड़ी आलोचना करते हैं।"[1] आदर्शवादी साहित्य जीवन की अनुकृति से सन्तुष्ट नहीं होता, वह जीवन को दिशा विशेष की ओर उन्मुख करना चाहता है। वह 'जीवन क्या है? की अपेक्षा 'जीवन क्या होना चाहिए' की ओर निर्देश करता है।[2] द्विवेदी युग जनता को

---

[1] आधुनिक काव्य-धारा (के० ना० शुक्ल) पृष्ठ १२२

[2] "हो रहा है जो यहाँ सो रहा, यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिये कब क्या कहाँ, व्यक्त करती है कला ही वह यहाँ !"
— मैथिलीशरण

युग-धर्म की प्रेरणा देता है। इस समय तक देश की महत्वाकांक्षा को प्रकट करने वाली संस्था कांग्रेस धीरे-धीरे प्रबल हो गई थी। भारत के गवर्नर जनरलों का पहिले उसके प्रति जो सहानुभूतिपूर्ण रुख था वह अब बदल गया था। वह अब शत्रु-संस्था समझी जाने लगी थी और उसमें कार्य करने वालों तथा उससे सहानुभूति रखने वालों पर शासन की कड़ी दृष्टि रहने लगी थी। (इलाहाबाद के एक सज्जन को वहाँ के जिला मजिस्ट्रेट की इच्छा के विरुद्ध मद्रास-कांग्रेस-अधिवेशन में सम्मिलित होने के अपराध में बीस हजार रुपये की जमानत देनी पड़ी थी।) लार्ड कर्जन के दमनकारी कानून से भारतीयों का स्वाभिमान जाग्रत हो गया। बंग-भंग ने प्रज्वलित अग्नि में घृत का कार्य किया। बंगाली दो प्रान्तों में नहीं बँटना चाहते थे। इसलिए विरोध-प्रदर्शन के लिए जुलूस, सभाएँ, हड़तालें आदि आये दिन की घटनाएँ हो गईं। पूर्वी बंगाल के गवर्नर ने नागरिकों को धमकी दी कि संभव है उसे खून-खराबी करनी पड़े। सरकार की धमकियों का विपरीत प्रभाव पड़ा। बंग-भंग का आन्दोलन बंगाल का नहीं, देश का आन्दोलन बन गया। पंजाब में 'केनेल कालोनाइजेशन बिल' से वहाँ की जनता भी भड़क गई। उसी सिलसिले में लाला लाजपतराय और अजीतसिंह को देश निकाले का दण्ड दिया गया। विद्यार्थियों पर राजनीति में भाग न लेने की सख्ती की गई। सन् १९०० तक देश में स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा आदि का आन्दोलन ज़ोरों से चलने लगा। बंगाल में विपिनचन्द्रपाल और अरविन्द घोष के नेतृत्व में क्रान्ति की ज्वाला सुलगने लगी। १९०८ ई० में मुजफ्फरपुर में श्रीमती केनेडी और कुमारी केनेडी पर बम फेंकने के अभियोग में १८ वर्षीय खुदीराम बोस को फाँसी की सजा दी गई। पूना के लोकमान्य तिलक को राजद्रोह में देश निकाला दिया गया। लंदन में सर वायली और नासिक में जेक्सन की हत्या की गई। भारतीय तारुण्य विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए बावला हो गया। जगह-जगह क्रान्तिकारी षड़यन्त्र होने लगे। इसी बीच १९१४ में प्रथम महायुद्ध की ज्वाला भड़क उठी। जर्मन के राजा कैसर की सेनाएं फ्रांस में धँसकर अँग्रेजों और मित्रराष्ट्रों को संकट में डाल चुकी थीं। इसी बीच

भारतीय सेनाएँ वहाँ पहुँच गईं और उन्होंने मित्र राष्ट्रों के सम्मान की रक्षा की। भारतीयों की इस सहायता के प्रति कृतज्ञ होने के स्थान पर युद्ध समाप्त होने के बाद देश में दमनकारी कानूनों की रचना हुई। काँग्रेसी नेताओं ने ऐसे कानूनों का विरोध किया। पंजाब का लेफ्टिनेन्ट गवर्नर ओडायर कांग्रेस की शक्ति को रौंद देना चाहता था। परिणामतः स्थान-स्थान पर लूट-मार और मार-काट की घटनाएँ हुईं। अमृतसर में दमनकारी कानून के विरोध में सार्वजनिक सभा करने वाली जनता गोलियों से भून दी गई। इस पशु-कृत्य के लिये शासकों ने डायर की प्रशंसा की—उसे बधाई दी। गाँधी जी के ऐतिहासिक असहयोग आन्दोलन की यह पृष्ठ भूमि थी। महायुद्ध में टर्की की दुर्दशा और खिलाफत के खतरे में पड़ जाने के कारण देश में हिन्दू-मुसलमानों में भी मेल हो गया था। इस सम्बन्ध में सरकार की १९१९ की शासन-रिपोर्ट में कहा गया है—"सब लोग उत्तेजित थे। पर एक बात बड़े मार्के की दिखाई पड़ती थी और यह था हिन्दू-मुस्लिम भ्रातृ-भाव। हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के हाथ से खुल्लम-खुल्ला पानी लेते-देते थे। एक जगह तो एक मसजिद के इमाम पर खड़े होकर हिन्दू नेताओं को बोलने भी दिया गया था।"[१] धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र में आर्य-समाज और ब्रह्म समाज की विचार-धाराओं के साथ-साथ विवेकानन्द के वेदान्त-विचारों का भी काफी प्रचार हुआ। भारतीय अतीत संस्कृति के प्रति जनता की श्रद्धा जाग्रत हुई और बौद्धिकता भी।

इस काल की कविता में देश की राजकीय और धार्मिक प्रवृत्तियों का स्पष्ट स्वर सुन पड़ा। उसकी आदर्शवादिता भावी के निर्माण में अधिक सजग पायी गई। वह स्वर्णिम अतीत का गौरव गाकर प्रसन्न ही नहीं होती थी, दयनीय वर्तमान पर आँसू ही नहीं बहाती थी, भविष्य की मनोरम झाँकी भी दिखलाती थी और इसीसे उसकी आदर्शवादिता सार्थक होती है।

---

[१] "मन्दिर में हो चाँद चमकता, मस्जिद में मुरली की तान।
हिन्दू-मुस्लिम दोनों भाई, आओ हिलमिल हों कुर्बान॥"
—'भारतीय आत्मा'

देश की राजनीतिक चेतना की खुलेकंठ[१] से इस युग का कवि घोषणा करता है और उसकी धार्मिक अभिव्यक्ति स्थूल से सूक्ष्म हो जाती है। उसे सृष्टि के अणु-अणु में तथा मानव के लोक हितकारी व्यापारों में परमात्मा के दर्शन होते हैं।[२] समाज में रुढ़ियों के प्रति उत्तरोत्तर तिरस्कार बढ़ता जाता है। संस्कृत, अंग्रेजी, बँगला आदि साहित्य के अध्ययन की अभिरुचि दृढ़ होती जाती है।

इस युग की हिन्दी कविता अपने भाव तथा विभाव पक्षों में इनसे स्वभावतः प्रभावित हुई। देश में जो स्वतन्त्रता की आँधी बही उसने इस युग की कविता में रोमेंटिक प्रवृत्ति अथवा स्वच्छन्दतावाद को भी जन्म दिया। इसके उन्नायक श्रीधर पाठक माने जाते हैं। यह 'वाद' "आवेश, आतुरता, आध्यात्मिकता, कुतूहल, क्षोभ, प्रगति ; स्वातंत्र्य; प्रयोगिकता; उत्तेजकता और शक्ति-भावना में व्यक्त होता है।" (जेम्स) "रोमेंटिक कवि सब कुछ गवारा कर सकता है पर स्थूल जगत् की राह जो एक सूक्ष्म तत्त्व की निरन्तर गति प्रवाहित हो रही है उसके अभाव को वह सहन नहीं कर सकता।..........वह प्रकृत वस्तु में अति-प्राकृत्य देखता है, इस स्थूल बाह्य नाम रूपान्तर जगत् में वह सूक्ष्म तत्त्व का दर्शन करता रहता है और इसी सूक्ष्म और रहस्यमय तत्त्व को प्रकाशित करने के लिए उसकी लेखनी चंचल हो उठती है।"[3] कृत्रिमता के बन्धन कवि को अखर उठते हैं और तभी वह स्वच्छन्द गति से चलने लगता है। स्वच्छन्दतावाद के मूल में यही प्रवृत्ति है। वह यथार्थवाद का विरोधी नहीं है,

---

[१] "खुला यह कहते हैं आज हम स्वराज्य लेंगे। स्वराज्य लेंगे।

[२] "कहीं न कोई शासक होता और न उसका काम
होता नहीं भले ही तू भी रहता केवल नाम।
दया धर्म होता बस घट में जिस पर तेरा प्यार
छोटा सा घर-आँगन होता, इतना ही परिवार॥"
—मैथिलीशरण गुप्त

[3] रोमेंटिक साहित्य-शास्त्र (डा० देवराज) पृष्ठ १८०

आदर्शवाद से भी उसका संघर्ष नहीं है पर वह उसके समान केवल भविष्य की सुन्दर कल्पना से सन्तुष्ट नहीं होता। वह विषय और अभिव्यक्ति सभी में अभिनवता की खोज करता तथा पुरानेपन से विरसता प्रदर्शित करता है। रोमेंटिक कविता इसीलिये नए-नए विषयों की खोज करती है क्योंकि पुराने विषयों और छन्दों से कब तक आनन्द-रस की सृष्टि की जा सकती है ?

आँग्ल साहित्य में रोमेंटिसिज्म का पुनरुत्थान वर्डस्वर्थ और कॉलरिज के 'Lyrical Ballads' के प्रकाशन से होता है। इन कवियों को फ्राँस की जनक्रान्ति, रूसो के साथ-साथ केंट और हीगल के दार्शनिक विचारों तथा 'पुनर्जागरण' और 'सुधार' (Renaissance and Reformation) के आन्दोलनों ने भी प्रभावित किया। उनके काव्य के दो मुख्य सूत्र थे (१) प्रकृति का आध्यात्मीकरण और (२) समाज-जीवन में मानवता का विकास। यह बात नहीं है कि वर्डस्वर्थ और कॉलरिज के पूर्व अँग्रेजी कविता में ये तत्त्व नहीं थे पर 'काव्य के वाद' के रूप में इन्हीं ने इन्हें प्रचलित किया।

हिन्दी में रोमेंटिसिज्म के प्रचलन के लिए देश की राजकीय, धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति सहायक हुई। विदेशी शासकों की दमनकारी नीति ने कवियों को बन्धनों के प्रति घृणा से भर दिया। वे राजनीतिक क्षेत्र में स्वाधीन नहीं हो सकते थे। अतः उन्होंने अपनी स्वच्छन्दता को साहित्य के क्षेत्र में व्यक्त किया। द्विवेदी काल में श्रीधर पाठक ने जिस प्रवृत्ति को व्यक्त किया, वह आगे आनेवाले छायावाद-रहस्यवाद-युग में खूब उभर कर सामने आई। हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस मत से सहमत नहीं हैं कि श्रीधर पाठक जी द्वारा निरूपित 'सच्ची और स्वाभाविक स्वच्छन्दता का मार्ग हमारे काव्य-क्षेत्र के बीच चलने न पाया'...और "द्विवेदी की इति-वृत्तात्मक पद्य रचनाओं की जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई वह स्वाभाविक स्वच्छन्दता की ओर न बढ़ने पाई"।[1]

हिन्दी में श्रीधर पाठक की कविताओं में स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के जो लक्षण दिखलाई देते हैं, उसमें उन्होंने प्रकृति का मानवीकरण

---

[1] **हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ६०२**

किया, उसमें दैवी संकेत अनुभव किया तथा नए-नए छन्दों की खोज की। इस तरह वस्तु और कला में अभिनवता प्रदर्शित की। 'काश्मीर-सुषमा' में प्रकृति की आलम्बन-रूप में स्वीकार कर उसका मनोहारी चित्रण किया।

"प्रकृति इहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
पल-पल पलटति भेष छनिक छवि छिन छिन धारति॥"

जैसी पंक्तियाँ रीतिकालीन और हरिश्चन्द्रकालीन वस्तु वर्णन-परम्परा से निश्चय पृथक् हैं। प्रकृति मानवी के रूप में खड़ी हो हमें मुग्ध बनाती है। इसी तरह उनकी 'स्वर्गीय वीणा' में परोक्ष-ध्वनि भी स्वच्छन्दतावाद की सूचना दे रही है—

"कहीं पै स्वर्गीय कोइ बाला, सुमंजु वीणा बजा रही है
सुरों की संगीत की सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है।"

× × × ×

'भरे गगन में हैं जितने तारे हुए हैं मदमस्त गत पै सारे
समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानों दो उँगलियों पर नचा रहे हैं।"

श्रीधर पाठक की प्रकृति-प्रेम की परम्परा द्विवेदी-युग में भी मुकुटधर पाण्डे, लोचनप्रसाद पाण्डे आदि कवियों में थोड़ी-बहुत जारी दिखलाई देती है पर उसमें संवेदना की प्रबलता अधिक नहीं है। द्विवेदी-युग की काव्य आत्मा में आदर्शवाद अधिक रहा है जो नीतिमत्ता पर आधारित है। स्वच्छन्दतावाद द्विवेदी-युग में प्रारम्भ होकर भी उसके नीतिवाद या आदर्शवाद का विरोधी नहीं रहा—प्रकृति का सहज ललित रूप-चित्रण, उसका मानवी और दैवीकरण सर्वथा युग-धारा के अनुकूल है।

आचार्य द्विवेदी के सरस्वती-सम्पादन-भार से मुक्त होने के बाद हिन्दी कविता में नए वाद का प्रचलन हुआ। यह वाद छायावाद के नाम से पहिचाना जाने लगा पर इसकी अनेक शाखायें चल पड़ीं जो रहस्यवाद, प्रतीक-वाद, हालावाद, आदि कहलाने लगीं। ये वाद लगभग सन् १९२० से १९३५ तक संचरित होते रहे। ऊपर कहा जा चुका है कि द्विवेदीजी की इतिवृत्तात्मक उपदेश-परक रचनाओं की शुष्कता से जनता ऊब उठी थी। अतः वह कविता का नया रूप देखना चाहती थी, ऐसा रूप जो उसके हृदय को स्पर्श कर सके, उसे रस से

सिक बना सके। इस समय तरुण अँग्रेजी साहित्य का, विशेषकर रोमेंटिक स्कूल के कवि वर्डस्वर्थ, शैली, कीट्स, कॉलरिज तथा बँगला के काव्य, विशेषकर रवीन्द्रनाथ-साहित्य का अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने तुलना की दृष्टि से अपने तत्कालीन काव्य को भी देखा। स्वभावतः उनमें उसे नूतनता प्रदान करने को उत्कंठा भी जाग्रत हुई। श्रीधर पाठक 'स्वच्छन्दतावाद' का प्रवेश करा ही चुके थे। इस वाद के अधिकाश लक्षण छायावाद में आकर विकसित हुए। **अतः हम छायावाद को स्वच्छन्दतावाद का ही परिवर्तित रूप मानते हैं।** छायावाद की प्रवृत्तियाँ हैं—(१) आत्माभिव्यञ्जना (Subjectivity) (२) नूतन छन्द विधान या छन्द मुक्तता (३ प्रकृति का मानवीकरण (४) प्रतीक-लक्षण, यंजना-प्रयोग (५) विश्वबन्धुत्व (मानववाद)। स्वच्छन्दवाद की रचना में भी ये तत्त्व पाये जाते हैं। इन आत्मपरक रचनाओं का 'छायावाद' नाम कैसे पड़ा? इस पर हिन्दी समीक्षकों और कवियों में काफी विवाद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—"ईसाई संतों के छायाभास (Phantasmata) तथा योरोपीय नाट्य-क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थीं।" (पृष्ठ ६५१) शुक्लजी के मत से छायावाद बँगला से आया और उसमें चूँकि 'अँग्रेजी और बँगला की पदावली का ज्यों का त्यों अनुवाद' पाया जाता है इसलिये उसमें स्वतंत्र उद्भावना सूचित नहीं होती। पर ऐसा क्यों हुआ? इसकी ओर उन्होंने संकेत नहीं किया। बात यह है कि हिन्दी कवियों का अँग्रेजी और बँगला का अध्ययन ताज़ा था। वे गद्यवत् हिन्दी-कविता के रूप को आकर्षक बनाना चाहते थे। इसलिये उन्होंने व्यंजना-शैली में सुधार किये और बाह्य-वर्णनों की अपेक्षा 'मैं' परक उद्गार प्रकट किये मानों वे उनके ही अनुभव हों।

छायावाद और रहस्यवाद को एक मान कर समीक्षकों ने गड़बड़झाला मचा दिया है। कठिनाई तो तब होती है जब वे परस्पर विरोधी कथन करने लगते हैं। हम छायावादी और रहस्यवादी रचनाओं में इस प्रकार अन्तर करते हैं—(१) दोनों में आत्मानुभूति होती है (२) दोनों की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मकता-लाक्षणिकता प्रधान

होती है (३) छायावाद का आलंबन लौकिक (मानव या प्रकृति) और रहस्यवाद का अलौकिक निर्गुण ब्रह्म होता है। रहस्यवाद की रचनाओं में प्रकृति में निहित रहस्य के प्रति जिज्ञासा-भाव भी व्यक्त हो सकता है। (४) दोनों में प्रायः विरह के उत्पीड़न का विषरण स्वर सुन पड़ता है। श्री गुलाबराय इन वादों के संबंध में कहते हैं, "प्रकृति में मानवी भावों का आरोप कर जड़-चेतन के एकीकरण की प्रवृत्ति छायावाद की एक विशेषता है जो उसी मूर्त से अमूर्त की तुलना करने वाले अलंकार-विधान में परिलक्षित होती है, जब प्रवृत्ति कुछ अधिक वास्तविकता धारण कर अनुभूतिमय निजी सम्बन्ध की ओर अग्रसर होती है तभी छायवाद रहस्यवाद में परिणत हो जाता है।"[1]

आचार्य शुक्ल छायावाद को एक शैली विशेष भी मानते हैं। अतएव यदि रचना आत्मपरक है और वह वक्र (प्रतीक-लक्षणा व्यञ्जना आदि) शैली में लिखी गई है तो उसका आलम्बन चाहे लौकिक हो या पारलौकिक वह छायावाद-शैली की रचना कही जायगी। छायावाद को जब हम केवल शैली मान लेते हैं तब आलम्बन विशेष का प्रश्न ही नहीं उठता। शुक्लजी आधुनिक तथा कथित रहस्यवाद की रचनाओं को 'रहस्यवाद' की रचनाएँ मानने को तैयार नहीं है क्योंकि "जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं, जिसकी अनुभूति से वास्तव में कभी हमारे हृदय में स्पन्दन नहीं हुआ, उसकी व्यंजना का आडम्बर कर दूसरों का समय नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं।"[2]

उनका यह भी मत है कि छायावादी कविताओं में कोई निर्दिष्ट भावभूमि नहीं है, कोरी अभिव्यञ्जना—(Form) है जो क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद[3] से प्रभावित है। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी छायावाद-रहस्यवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस काल की अधिकांश रचनाओं में लौकिक प्रेम का उभार पाया जाता

---

[1] काव्य के रूप-पृष्ठ १३७।

[2] काव्य में रहस्यवाद-चिन्तामणि भाग २—पृष्ठ ६३

[3] क्रोचे वस्तु (Matter) को परिवर्तनशील मानता है पर आकृति (Form) को शाश्वत क्योंकि वह आत्मा की कृति है। साधारणतः

है ।[१] हाला, प्याला और साकी की पुकार वाली कृतियाँ 'हालावाद' से अभिहित की जाती हैं (यद्यपि हाला, प्याला और साकी का भी आध्यात्मीकरण किया गया है—किया जा सकता है) उमर ख़य्याम की ख़ुमारी को हिन्दी में प्रचलित करने का श्रेय 'बच्चन' को है ।

हमने स्वच्छन्दतावाद की चर्चा करते समय कहा था कि आचार्य शुक्ल के इस मत से हम सहमत नहीं हैं कि पाठक जी का स्वच्छन्दतावाद उनके समय से आगे नहीं बढ़ पाया । हमारा निश्चित मत है, 'छायावाद-युग' अंग्रेजी के वर्डस्वर्थ, शेली, कीट्स, बायरन, कॉलरिज़ आदि के 'रोमेंटिसिज्म' का हिन्दी करण है (यद्यपि उसमें अपनी जातीयता का लोप भी नहीं है) छायावादी रचनाओं में नूतन कल्पकता, नूतन छन्द-विधान (और मुक्त छन्दता भी), गुह्य संकेत प्रकृति और मानव की आत्मा के दर्शन की लालसा और लौकिक प्रेम की उद्दामता—सभी कुछ पाया जाता है और यही उपादान रोमेंटिक कविता में

हम कला के बाहरी रूप को अभिव्यञ्जना कहते हैं । क्रोचे बाह्य अभिव्यञ्जना को अभिव्यञ्जना नहीं मानता उसके मत से शब्द या छन्द तभी बाहर प्रकट होते हैं जब मन उन्हें पहिले गा चुकता है । इसीलिये वह कहता है, अभिव्यञ्जना ही सौन्दर्य है और सौन्दर्य ही अभिव्यञ्जना है ।

"जानता हूँ प्यारे, उसकी पीर को भी ।
बाँह तुमने डाल दी ज्यों फूल माला,
संग में, पर नाग का भी पाश डाला,
जानता हूँ गलहार हूँ, जँजीर को भी ।
× × × ×
कौन आया है सुरा का स्वाद लेने
जो कि आया है हृदय का रक्त देने
जानता मधुरस गरल के तीर को भी
जानता हूँ प्यार, उसकी पीर को भी ।" —'बच्चन'

(मिलन यामिनी पृष्ठ ४८)

भी तो पाये जाते हैं। छायावादी-युग में राष्ट्र गौरव के गीत वक्र-शैली में माखन लाल और दिनकर ने गाये यह युग गीति (Lyrics) के प्रचलन के लिए भी प्रसिद्ध है। 'प्रसाद' 'निराला' 'महादेवी' इस युग के प्रसिद्ध गीतिकार हैं।

वक्र-शैली और अन्तर्मुखी वृत्ति वाला छायावादी युग लगभग १६३६ ई० में अन्तिम साँसें लेने लगा। सन् १६३४ ई० की एक शाम को लन्दन के एक होटल में आनन्द मुल्क राज, जहीर आदि चार-पाँच भारतीयों ने मिलकर एक संघ की स्थापना की जिसका उद्देश्य संसार की प्रगतिशील प्रवृत्तियों को साहित्य में प्रश्रय देना था। उसके दो वर्ष बाद लखनऊ में स्वर्गीय प्रेमचन्द्र के सभापतित्व में प्रगतिशील संघ की स्थापना हुई जिसमें लेखकों को कल्पना के दुमँजिले प्रासाद से धरती को सड़क पर चलने की चेतावनी दी गई। युग-धर्म को अपने साहित्य में उतारने का आग्रह किया गया। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति 'वाद' का रूप धारण कर मार्क्स के सिद्धान्तों की प्रचार-सूचना बन गई। इसमें यथार्थ जगत् से 'सुपरमैन' (नर श्रेष्ठ) को नीचे धकेल कर नर-जाति की ही प्रतिष्ठा की जाने लगी विशेषकर उसकी जो शोषित है, उत्पीड़ित है, वञ्चित है, हीन है।

कविता पुनः अन्तर से बहिर्मुखी होने लगी। छायावादी कवि के समान इस बार 'प्रगतिवादी' कवि चाँदनी भरी त्रयोदशी की रजनी में अशोक को किसी मदिराक्षी के चरणस्पर्श से पुष्पित कर मदनोत्सव नहीं मनाता और न वह अपने आँसुओं से रह-रह कर जलना या गलना चाहता है। अनन्त का स्पर्श भी वह भूल गया है, उसे अब 'मिल' के भोंपू खूब सुन पड़ते हैं। कहारिन को बिवाई भरी एड़ी और हथेलियों में कविता दिखलाई देने लगी है। यद्यपि प्रगतिवादी काव्य अपने को स्वच्छन्दतावाद का विरोधी घोषित करता है तो भी उसकी कई रचनाओं में उन्मुक्त प्रेम, जो वासना से सना हुआ होता है, पाया जाता है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ छायावादी कविता का आलम्बन अभिजात वर्गीय नारी होती थी वहाँ प्रगतिवादी प्रेम-काव्य का आलम्बन निम्न वर्ग को नारी होती है। इस वाद की कविता हँसिया, हथौड़ा और फावड़े में सिमिटकर रह गई है! जिन शोषितों में क्रान्ति उत्पन्न करना उसका ध्येय है उन तक वह अभी तक पहुँच नहीं पाई हैं क्योंकि वह जन भाषा और जन-भावना से दूर है; क्योंकि वह उनके साथ एक

रस होकर नहीं लिखी गई। उसका संचार-प्रचार बुद्धिवादियों तक ही सीमित है। जब से प्रगतिवादी आन्दोलकों ने अपने को रूसी साम्यवाद के साथ अभिन्न बना लिया है तब से हिन्दी के चोटी के कवि-निराला, पंत, भगवतीचरण आदि उससे पृथक् हो गये हैं। क्योंकि इन कवियों का एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण है जिसका जड़वादी मार्क्स से मेल नहीं खाता। कल्पना, भावना जैसी कोमल मनोवृत्तियों का प्रगतिवाद अथवा मार्क्सवाद में कोई स्थान नहीं है। काव्य कोमल मनोवृत्तियों के बहिष्कार से कब तक जीवित रह सकता है।

प्रगतिवाद के संकुचित दायरे की प्रतिक्रिया हिन्दी कविता में 'प्रयोगवाद' के रूप में प्रकट होने लगी है। इस वाद का प्रारम्भ अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तारसप्तक' की भूमिका से होता है। जिस तरह अंग्रेजी में Lyrical Ballads (वर्डस्वर्थ-कालरिज की रचनाओं का संग्रह) के प्रकाशन से Romanticism (स्वच्छन्दतावाद) की कविताओं का प्रचलन होता है उसी तरह हिन्दी में 'तारसप्तक' (भाग १, २) कविता-संग्रहों के प्रकाशन से प्रयोगवाद का रूप सामने आता है। इस प्रकार की रचनाओं में आत्म-परक भावनाओं और पर-परक विचारों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का दावा किया जाता है। इसमें प्रगतिवाद की तरह काव्य-वस्तु का क्षेत्र सीमित नहीं है। इस वाद का जन्म छायावाद युग की अतिभाव विभोरता और प्रगतिवाद की शुष्क बौद्धिकता की प्रतिक्रिया जान पड़ता है। प्रगतिवादी साहित्य ने ऐसी कोई चीज प्रदान नहीं की जिसका स्थायी प्रभाव हो सके। प्रगतिवादी साहित्य सृजन में योग देने वाले प्रसिद्ध कवि पं० उदयशंकर भट्ट ने स्वीकार किया है "प्रगतिवाद के नाम से जितना भी साहित्य-सृजन हुआ है वह रूस की प्रेरणा से लाल निशान, हँसिया, हथौड़े का साहित्य है........मार्क्स का साहित्य पढ़कर साहित्यकार बनाने वाले इन महानुभावों की कृति में न रस था न चमत्कार पूर्ण कृतित्व। साम्यवाद के इन बौद्धिक खिलाड़ियों ने जो कुछ लिखा वह न तो भारत के किसानों का था और न मज़दूरों का।"[1] प्रयोगवादी रचना में शैली की अभिनवता, नूतन प्रतीक, नव कल्पनाएँ, प्रचलित पदों का प्रयोग और नवीन छन्दों का

[1] **नया समाज, अगस्त १९४९**

सृजन आवश्यक समझा जाता है। कवि सदा प्रयोगवादी होता है। क्षण-क्षण नवीनता की खोज में वह आतुर रहता है इसलिये यह वाद कोई नूतन संदेश लेकर नहीं आ रहे हैं, काव्य में सम्भवतः गत्यावरोध दूर करने के लिए इसे प्रभावशाली किया जा रहा है। रोमेंटिक कविताएँ भी क्या काव्य के विषय और शैली के संबंध में नूतन प्रयोग उपस्थित नहीं करतीं? अंग्रेजी में आधुनिक कविता के क्षेत्र में फ्रांस से बहुत से वाद इंग्लिश चैनल पार कर पहुँचते रहते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यीट्स, इजरा पाउण्ड आदि ने 'The Tower' नामक कविता-संग्रह के प्रकाशन से अँग्रेजी कविता में यथार्थवाद की शंख-ध्वनि की, जिसमें १९वीं शताब्दी के स्वच्छन्दता वाद को इति की घोषणा थी। ईलियट ने प्रतीकवाद को अपनाया। सन् १९३० ई० के लगभग ऑडेन ने एक नया ही मार्ग निकाला, जिसमें मनोविज्ञान और राजनीति पर ज़ोर दिया गया। सन् १९४० के लगभग ऑडेनवादियों का संगठन टूट गया। इनमें से कुछ कवियों ने अर्ध-अतिवास्तवाद (Semi Surrealism) और अभिनव स्वछन्दवाद की धारा प्रवाहित की। गतवर्ष (१९५० ई०) से अंग्रेरेजी में बाह्यांगवाद (Formalism) की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। इसमें काव्य की शैली, छंद, भाषा आदि पर विशेष ज़ोर दिया जाता है। फ्राँस में भञ्जनवाद (Dadaism) और अस्तित्ववाद (Existentialism) की लहर चल रही है। हिन्दी का प्रयोगवाद इन सब पाश्चात्य लहरों के समान एक लहरी'वाद' ही कहा जा सकता है। अँग्रेजी के समीक्षक इन वादों की क्षणभंगुरता को अनुभव कर उन्हें विशेष महत्त्व नहीं दे रहे हैं। जिस कविता में जीवन का शाश्वत सत्य अभिव्यक्त होता है, वह चाहे जिस 'वाद' के अन्तर्गत परिगणित हो, सब युग की कृति होती है और साहित्य को गौरावान्वित करती है। यदि प्रयोगवादी कवि भाषा और शैली को युगानुरूप बनाने के साथ ही उसमें सामान्य मानव भावनाओं को भी, जिनमें युग झाँकता रहता है, अंकित कर सके तो वे हिन्दी कविता में सचमुच नूतनता सृजन करने के श्रेय के भागी होंगे।

---

२. प्रयोगवादी कविता

आधुनिक हिन्दी कविता में एक नये वाद का स्वर सुनाई देने लगा है और वह है प्रयोगवाद। इस प्रकार की रचनाओं में आत्म-परक भावनाओं और पर-परक विचारों के साथ सामंजस्य स्थापित करने का दावा किया जाता है। शैली की अभिनवता, नूतन प्रतीक, कल्पनाएँ, प्रचलित पद तथा नवीन छंदों का सृजन भी इनकी विशेषता बताई जाती है। इस वाद का जन्म छायावाद-युग की अति भाव-विभोरता और प्रगतिवाद काल की शुष्क बौद्धिकता की प्रतिक्रिया जान पड़ती है। प्रगतिवाद ने हिन्दी साहित्य को ऐसी कोई चीज प्रदान नहीं की जिसका प्रभाव स्थायी हो सके। प्रगतिवादी साहित्य-सृजन में योग देने वाले प्रसिद्ध कलाकर पं० उदयशंकर भट्ट ने 'हिन्दी साहित्य में गत्यावरोध' (नया समाज, अगस्त १९४९) में इसे स्वीकार किया है—"प्रगतिवाद के नाम से जितना भी साहित्य-सृजन हुआ है, वह रूस की प्रेरणा से लाल निशान, हँसिया-हथौड़े का साहित्य है। कुछ साहित्य जापान के नाश की प्रार्थना तथा उसको गाली देने के लिये भी लिखा गया। बाकी कुछ अच्छे और शेष नौसिखिए लेखकों-कवियों द्वारा लिखा गया, जो किसान-मजदूरों को लेकर है। वास्तविकता से उनका कोई परिचय न था। मार्क्स का साहित्य पढ़कर साहित्यकार बनने वाले इन महानुभावों की कृति में न रस था, न चमत्कार पूर्ण कृतित्व। साम्यवाद के इन बौद्धिक खिलाड़ियों ने जो कुछ लिखा वह न तो भारत के किसानों का था और न मजदूरों का। रूस के किसानों-मजदूरों की क्रांति के कुछ स्फुलिंगों का एकत्रीकरण—जैसे कोई छात्र अपनी मौलिकता का प्रदर्शन करने के लिए कहे जाने पर मास्टर साहब की किताब की ही नक़ल कर दे। इस प्रकार नीचे स्तर का और पिष्टपेषित होने के कारण प्रगतिवाद का न तो काव्य ही चमत्कृत हो सका और न उसके अन्य साहित्यिक अंग ही।" हिन्दी परिषद् पटना कालेज द्वारा आयोजित साहित्यिक-सप्ताह के अवसर पर विगत वर्ष छायावाद और प्रगतिवाद पर

विश्वविद्यालय प्राध्यापकों द्वारा कुछ निबन्ध पढ़े गये थे जिनमें प्रगतिवाद की व्यर्थता को सप्रमाण सिद्ध किया गया था। प्रगतिवाद में जनवाद का महात्म्य प्रबल है। उसीके सम्बन्ध में प्रो० नलिन विलोचन शर्मा लिखते हैं—"हिन्दी के प्रगतिवादी कवि जिस जन-पूजा को इतना मौलिक और स्पृहणीय सिद्धांत मान बैठे हैं वह रूसी साहित्य में बहुत पहिले ही अभिव्यक्त और आलोचित भी हो चुका है। गोर्की की कॉन्फ़ेशन नामक पुस्तक की आलोचना करते हुए हर्मन बैरोनेव ने १६०८ ई० में ही कहा था कि यह तो 'डेमोथिज़्म' है, अर्थात् मूर्ति की देवता की पूजा नहीं की, जनता की पूजा करने लगे। रूसी लेखकों ने बैरोनेव की आलोचना की कोई खास कद्र नहीं की यह स्पष्ट है, किंतु विवेकशील श्रोताओं के लिए उसकी ये पंक्तियाँ शायद कुछ महत्त्व रखें—'जनता की पूजा आवश्यक नहीं है, आवश्यक है उसका विकास करना, उसे रूस के भयंकर दलदल से बाहर निकालना (अवश्य पहिले अपने आपको निकालकर)।' जहाँ जन-पूजा रूढ़िवादिता का परिचायक है वहीं हाथी-दाँत के मीनार में चाहे वह लाल रंग का ही क्यों न हो—बैठकर जन-पूजा की बातें करना जनता का सर्वथा अपमान करना है—"जो हिन्दी के प्रगतिवादी बहुधा करते पाये जा रहे हैं।" (छायावाद और प्रगतिवाद पृष्ठ १५२-१५३) उसी आयोजन में श्री० लक्ष्मीश्वरदयाल ने 'साहित्य और जनवाद' शीर्षक निबन्ध पढ़ते हुए कहा था—"जनवाद का दावा पेश करने वाले और युग-धर्म की दुहाई देने वाले प्रगतिवादी काव्य के विरुद्ध हमें यही शिकायत है कि उसे पहिले काव्य होना है और तब जनवादी या सामान्यवादी और काव्य की रचना सृजन-शक्ति पर आश्रित है, विद्वत्ता पर नहीं। मैं यह नहीं कहता कि विद्वत्ता कलात्मकता में बाधक है, बल्कि केवल यह कि विद्वत्ता कला का आधार नहीं बन सकती है।" साम्यवादी लेखकों के 'जन-पूजा' के आग्रह पर गुजराती प्रगतिवादी लेखक श्री० हीरालाल गोड़ीवाला प्रश्न करते हैं—"क्या हम किसी भी कीमत पर साहित्य में प्रगतिवाद लाना चाहते हैं ? क्या यह एक लाभ की चीज होगी कि हमारा साहित्य, साहित्य-रचना की प्रक्रिया से अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति करने के स्थान पर प्रगतिशील बनने की कोशिश में साहित्य ही न रहे ?"

हिन्दी-कवि प्रगतिवाद के राजनीतिक बन्धनों से मुक्त होने के लिए छटपटा उठा है। इसलिये वह अपने ढंग से नये प्रयोग करना चाहता है और अपने को प्रयोगवादी कहलाने में गौरवान्वित अनुभव करता है। उसे हृदय-वीणा की झंकार जितनी बासी और बेसुरी मालूम होती है उतनी ही फावड़े की खनखनाहट भी कानों को विदीर्ण करने वाली प्रतीत होने लगी है।

रेडियो से कुछ समय पूर्व प्रयोगशील कविता पर एक परिसंवाद प्रसारित हुआ था जिसमें पंत, शिवमंगल सिंह सुमन, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, अश्क और भारती ने भाग लिया था। पंत ने भूमिका के रूप में 'वाद' पर प्रकाश डालते हुए कहा था—"क्लासिकल अथवा प्राचीन काव्य में हमें शाश्वत तथा उदात्त के प्रति एक गंभीर आकर्षण, चिरंतन मान्यताओं के प्रति अटल विश्वास तथा सार्वलौकिकता के प्रति एक असंदिग्ध आग्रह मिलता है। उसमें एक ओर चरित्र की महत्ता और दूसरी ओर वस्तुजगत का स्थायित्व दृष्टिगोचर होता है। छायावाद में शाश्वत तथा उदात्त का स्थान रहस्य ने ले लिया, वस्तु जगत् का स्थान भाव-जगत् और सार्वलौकिकता का स्थान वैयक्तिकता ने ग्रहण कर लिया। उसने वास्तविकता की उपेक्षा कर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि की ओर कल्पना का सौंदर्य-पुट बुना। प्राचीन काव्य में भाव और वस्तु जगत् में एक संतुलन तथा तादात्म्य मिलता है। छायावाद ने वस्तु जगत् को अपनी भावना की तूली से रँग दिया है।

प्रयोगवादी काव्य जहाँ अपनी शैली तथा रूप-विधान में अति वैयक्तिक हो जाता है वहाँ अपनी भावना में जनवादी : वह छायावादी स्वप्नों के कोहरे को हटाकर एक नवीन वास्तविकता के मुख को पहिचानना चाहता है और सूक्ष्म भाव जगत् से हटकर फिर से वास्तविकता की भूमि पर उतरना चाहता है। पर उस भूमि में भूकम्प है : उसकी वास्तविकता बदल रही है। उसका परिवेश नवीन काव्य को घेरे हुए हैं। उसके भाव और वस्तु जगत् में एक विरोध आ गया है। वह परिस्थितियों के भार से दबा जा रहा है, वह उन्हें सँभाल नहीं पाता, उनकी कारा को तोड़कर वह आगे बढ़ना चाहता है। वह बाहर, सुदूर बाहर की ओर देख रहा है और उसी सम्बन्ध में अपने को समझना चाहता है। यह नवीन काव्य

प्रभाववादी भी है। वह नित्य नवीन प्रभावों की छाया-वीथियों में चलता हुआ दिखाई देता है।" विवाद के प्रश्न हैं—प्रयोगशील काव्य किसे कहते हैं? उसका लक्ष्य क्या है? वह क्या केवल प्रयोग के लिए प्रयोग है? क्या उसके लिए छंद-हीन-सृष्टि आवश्यक है? क्या उसने हिंदी कविता को वस्तु, विषय तथा शैली की दृष्टि से कोई नवीन दिशा प्रदान की है? इन प्रश्नों पर रेडियो की चर्चा में प्रकाश डाला गया था। सुमन ने प्रयोगवादी काव्य का कोई अभिप्राय स्पष्ट नहीं किया। उन्होंने उसे युग की बहुत बड़ी माँग कहकर पंत के प्रश्न को टाल दिया। वे उसे शैली-गत और व्यंजना-गत चमत्कार मानते हैं। साथ ही विषयगत और वस्तुगत तत्त्व का उसमें पूर्ण समावेश मानते हैं। अज्ञेय नई परिस्थितियों के साथ नये प्रकार के रागात्मक सम्बन्ध प्रयोगशील कविता का लक्षण समझते हैं। उसमें नये सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी वे पाते हैं। वे भी शैली के साथ साथ विषय और वस्तु की नवीनता का सम्बन्ध प्रयोगशील काव्य से जोड़ते हैं। अज्ञेय प्रयोगशील कविता का लक्ष्य कविता के लक्ष्य से भिन्न नहीं मानते क्योंकि प्रयोग को वे साध्य न मानकर साधन मानते हैं क्योंकि कविता का साध्य व्यक्ति-सत्य का साधारणीकरण करके आनंद की सृष्टि करना है। सुमन ने प्रयोगवादी कविता का आधार मुक्तछंद अधिक उपयुक्त समझा है। परन्तु भगवतीचरण वर्मा छंदहीनता में काव्य देखते ही नहीं। भारती ने प्रयोगवादी कविता की धारा द्वितीय महायुद्ध के अंतिम वर्षों में उभरती हुई देखी है। उनके मत से द्वितीय महायुद्ध के कारण मध्यवर्ग को जिस प्रकार की उलझनों में फँसना पड़ा, वह एक ऐसी भाव-भूमि थी जिसमें प्रयोगात्मकता अधिक पनप उठी। वे पिछली पगडंडियों से असंतुष्ट थे और नई पगडंडियाँ ऐसी थीं कि जिन पर कविता चल सकती थी। भारती कविता में सामाजिक-तत्त्वों को प्रमुख मानते हैं और उनका विश्वास है कि नये रूपों में (प्रयोगवादी कविताओं में) एक नवीन सामाजिक जनवादी दृष्टिकोण प्रतिष्ठित होगा। अज्ञेय इस प्रकार की कविता में सामाजिक तत्त्व की प्रमुखता को स्वीकार नहीं करते। फ्रायड, मार्क्स, डार्विन सभी का प्रभाव नई कविता पर पड़ा है। पर अज्ञेय यह स्वीकार करते हैं कि इन तत्त्वों ने जीवन के सम्बन्ध में जो नया प्रकाश डाला है उनसे हमारा

रागात्मक लगाव नहीं हो पाया है। अभी हमारा उसके प्रति आकर्षण केवल बौद्धिक है। भगवती चरण वर्मा प्रयोगवादी और प्रगतिवादी कविता में शैली का अंतर पाते हैं। उसमें फ्रायड-तत्त्व का प्रभाव भी देखते हैं।

प्रयोगवादी कविता का इतिहास पंत के मत से प्रसाद द्वारा प्रारम्भ होता है। परन्तु शिवमंगलसिंह सुमन ने पंत के पल्लव को बहुत बड़ा प्रयोगवादी काव्य माना है क्योंकि उसने "छंद की रूढ़ियों को तोड़ने और भावनाओं को खुल-खेलने का अवसर दिया है।" परन्तु हम प्रयोगवादी कविता का इतिहास सर्वथा आधुनिक नहीं मानते। हर युग में जीवन-सम्पन्न कवि ने रूढ़ियों से विद्रोह किया है। वह चाहे समाजगत हो, चाहे काव्यगत। हमारा मत है कि प्रसाद और पंत ने किसी वाद को लक्ष्य मान कर कविता के साथ जहाँ तक उसकी कला का सम्बन्ध है, खिलवाड़ नहीं किया। वस्तु और भाव के क्षेत्र में पंत ने समय-समय पर विभिन्नता अवश्य प्रदर्शित की पर इस भिन्नता में केवल प्रयोग लक्ष्य है, कहा नहीं जा सकता। हो सकता है; कवि का गतिशील मन महान व्यक्तियों के प्रभावों को समय-समय पर आत्मसात् कर उन्हें व्यक्त करने के लिए व्यग्र हो उठता हो। निराला में प्रयोग करने के लिए कविता के कुछ रूप प्रस्तुत करने की उत्कटता अावश्य पाई जाती है। छायावाद-युग में उन्होंने छंदों के विविध रूप जिनमें तुक का आग्रह है और नहीं भी है--प्रस्तुत किये। अभिव्यक्ति में तीखा व्यंग्य उनकी विशेषता रही है।

प्रगतिवाद के मध्याह्न काल में उनकी 'कुकुर मुत्ता' "खजुराहा', 'पकौड़ी' आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। प्रयोगवादी रचनाओं का यदि व्यंग एक आवश्यक उपकरण माना जाय तो उसकी सबसे अधिक मात्रा निराला में ही मिलती है। परन्तु ऐसी रचनाओं में कविता के बाह्य रूप (Form) के साथ-साथ विषय की विभिन्नता भी अपेक्षित समझी जाती है। नई कल्पनाएँ खोजने का यत्न होता है। प्रकृति को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने-समझने की प्रवृत्ति पायी जाती है। 'तारसप्तक' में प्रयोगवादी श्री प्रभाकर माचवे ने लिखा है—"हमारी कविता में पाये जाने वाले अधिकांश कल्पना-चित्र या बिम्ब बच्चों के

से निरे शाब्दिक-परम्परागत होते हैं। इनके बजाय हमें राग और ज्ञान से पूरित ऐन्द्रिक आवेगाश्रित और अभिजात मूर्त विधान करना है।"

माचवे वर्तमान कविता के कल्पना-चित्रों के बासीपन से ऊब गये हैं। इसीलिये अभिजात मूर्तविधान की व्यग्रता प्रदर्शित कर रहे हैं। नवीन कल्पनाएँ सदैव वांछनीय हैं, लोक साहित्य में अक्षर-ज्ञान से शून्य पर जीवन-ज्ञान से परिपूर्ण अज्ञात नामा लोक कवियों ने आज के प्रयोगवादियों से भी अधिक सार्थक रूप-विधान किया है। उदाहरण के लिए एक भोजपुरी लोक-गीत की कुछ पंक्तियाँ लीजिए—

"पिठिया तोरा बखानिला कउन बेटी
जइसन धोबिया के पाट रे।
पेटवा तोरा बखानिला कउन बेटी
जइसन पुरइन के पात रे।
अँखिया तोरा बखानिला कउन बेटी
जइसन अमवा के फाँक रे।"

पीठ की उपमा धोबी के पाट से, पेट की उपमा पुरइन के पात से और आँखों की उपमा 'अमवा की फाँक' से दी गई है जिनमें परम्परागत बासीपन बिलकुल नहीं है।

बम्बई के धर्मयुग में 'नवीन कविता को ध्येयवादी होना चाहिये या यथार्थवादी' का विवाद गतवर्ष चलता रहा है। वास्तव में वाद का नाम कविता नहीं है। कविता की आत्मा उन्मुक्त होती है, पर इसका आशय यह भी नहीं कि वह उच्छृंखलता की क्रीड़ा होती है। जब कवि के हृदय में जीवन का सत्य प्रतिभासित होता है तब वह अनेक धाराओं में-अनेक रूपों में-फूट पड़ता है। उसकी अभिव्यक्ति में असाधित साधना का अमृत निसृत होता है जिसका नाम-करण आनेवाली पीढ़ी करती रहती है। जब कविता वाद को ही सामने रख कर गढ़ी जाती है तब वह कविता न रह कर केवल वाद रह जाती है जिसका फैशन कुछ समय तक चलकर अपने आप समाप्त हो जाता है।

हिन्दी कविता के क्षेत्र में जहाँ एक ओर सांस्कृतिक पुनरुत्थान का भव्य रूप दिखलाई दे रहा है वहाँ दूसरी ओर नवीनता की आकांक्षा से भरे हुए नवयुवक कतिपय प्रयोगात्मक प्रवृत्ति भी प्रदर्शित कर रहे हैं।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान महाकाव्यों में और प्रयोगात्मक प्रवृत्ति स्फुट काव्यों में झलक रही है। प्रयोगात्मक कविताओं को न तो हम निरर्थक मानते हैं और न उनकी शाश्वतता और अशाश्वतता के सम्बन्ध में अपना निर्णय ही देना चाहते हैं। यदि मानव-जीवन का सत्य उनमें उतर सकता है तो वह किसी भी रूप में हमारे सामने आये, हमें आकर्षित किये बिना नहीं रहेगा। अनुभूति की ईमानदारी काव्य का प्राण होती है। परन्तु यदि कोई अनुभूति का अभिनव-प्रयोग करे तो वह सचमुच बच्चों की क्रीड़ा के समान क्षणिक विनोद की सामग्री ही जुटा सकता है। ऐसे साहित्य में जिसका उद्देश्य ही प्रयोग है, शाश्वत आनन्द की खोज करना व्यर्थ है। नीचे एक प्रयोगवादी कविता की पंक्तियाँ दी जाती हैं—

घंटे आठ मजूरी के हैं, इतनी बात करो पक्की
मोल खरीदे नहीं कि पीसे आठ पहर मिल की चक्की
सुनो साथियों एक देश है पूरे सात समंदर पार
अमरीका का नाम बड़ा है बढ़ा-चढ़ा उसका व्यापार
सुनो साथियों अमरीका के शहर शिकागो की है बात
ओलों सी गोलियाँ चली थीं हुई खून की भी बरसात।"

(हंस, प्रगति अंक, पृष्ठ ४२८)

उपर्युक्त पंक्तियों में कलाहीन प्रचार के सिवा और क्या है! एक दूसरी प्रयोगवादी कविता का उदाहरण देखिये —

"एक बौने के बराबर
यह हरा ठिगना चना
बाँधे मुरेठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का,
सजकर खड़ा है!

और सरसों की न पूछो;
हो गई सबसे सयानी;
हाथ पीले कर लिये हैं
ब्याह मण्डप में पधारी;
फाग गाता मास फागुन
आ गया हो आज जैसे !
देखता हूँ मैं स्वयंवर हो रहा है
प्रकृति अंचल हिल रहा है।"

—केदारनाथ अग्रवाल

(हंस, प्रगति अंक, पृष्ठ २०६)

इस रचना में छंद के प्रयोग के साथ-साथ कल्पना की भी अभिनवता प्रयुक्त हुई जो मन को उल्लसित करती है। प्रकृति सजीव होकर हमारे सामने खड़ी हो गई है। कविता में ऐसे प्रयोगों का हम स्वागत ही करेंगे।

श्री० महेन्द्र भटनागर की 'वेदना' शीर्षक कविता में भी इसी प्रकार की छंद और कल्पना की नूतनता दर्शनीय हो गई है—

घाव पुराने पीड़ा के
जाने अनजाने में सबसे
आज हरे गीले सूजे !
रह रह कर बह जाती असह्य लहर
मानों बिजली का तीव्र करेंट ठहर
माँस मौन तड़पा देता।
नाली के कीड़ों जैसा इधर-उधर।"

अज्ञेय की प्रयोगवादी रचना की ये पंक्तियाँ हैं—

मरणधर्मा है सभी कुछ
किन्तु फिर भी बहो
मीठी हवा

जीवन की क्रियाओं को
तुम्ही तो तीव्र करती हो !
बहो
मीठी हवा तुम बहती रहो
पगली हवा, गति बढ़े जीवन की
उभरने के लिये
जीवन
यद्यपि मरने के लिये
सिहर झरने के लिये !"

उपर्युक्त में 'काव्याचार' (Poetic Formality) कुछ भी नहीं है फिर भी जीवन का सत्य बड़े स्वाभाविक ढंग से व्यक्त हुआ है। जीवन गतिशील है—हवा बह कर बतलाती है। 'हवा' प्राण है, इसलिये जीवन की गति बढ़ती है।

चलती हुई भाषा में श्री जगदीश गुप्त के "ये जिन्दगी के रास्ते" का प्रयोग भी व्यंजक है—

मैं सोचता था एक दिन !
ये ज़िन्दगी के रास्ते
केवल तुम्हारे वास्ते।
केवल तुम्हारे प्यार की अमराइयों में घूमकर।
केवल तुम्हारे रूप की परछाइयों में झूमकर।
केवल तुम्हारे वक्ष की गहराइयों को चूमकर।
सब बीत जायेगी उमर
मैं सोचता था एक दिन।"
(नई धारा, व० १, अंक १२, पृष्ठ ४४)

इसमें छायावाद युग के हलके झोंके से कवि ने बचने का यत्न नहीं किया है। प्रयोगवादी किसी वाद की परम्परा से न तो बँधता है और न भागता है।

भाषा के चलतू प्रयोग की बानगी श्री माखनलाल चतुर्वेदी की निम्न पुरानी पंक्तियों में भी मिल जाती है—

"तेरी बाट देखूँ, चने तो चुगा जा,
हैं फैले हुए पर, उन्हें कर लगा जा,
मैं तेरा ही हूँ इसकी, साखी दिला जा,
जरा चुहचाहट तो सुनने को आजा,
जो तू यों इछुड़ने-बिछुड़ने लगेगा,
तो पिंजड़े का पंछी भी उड़ने लगेगा"

(हिम तरंगिनी, पृष्ठ ४८)

धर्मवीर की 'दो आवाजें' छंद-संवाद का एक प्रयोग प्रस्तुत करती है—

(पहली आवाज़)

जैसे बंद गली में अन्धे चमगीदड़
दीवारों से टकरा टकरा चीखा करते !
वैसे ही मैं इस अन्धियारे में
चीख रहा ।
यह बन्द गली
यह काले तम की ऊँची-ऊँची दीवारें
यह महाकाल के जबड़े जैसा अँधियारा
मैं इनमें घुट मर जाऊंगा
कोई मुझको छुटकारा दो !
कोई मुझको............

(खामोशी)

कोई तो दो रोशनी
राह बतलाओ तो
मुझमें हिम्मत है
ताकत है,

पर अँधियारे के आगे
बिलकुल बेबस हूँ !
तुम !
तुम भी हो खामोश ?
(दूसरी आवाज)
मैं सुनती हूँ,
मैं पास तुम्हारे हूँ अब भी
तुम दूर नहीं हो
मेरी बाहों में हो !
लेकिन कुछ और छटपटाओ
आगे बढ़ते आओ
अँधियारा पूरी तरह निगल लेगा तुमको
तब सारे मंथन से निजात मिल जायेगी।"
(नई धारा, व० १, अं० १२, पृ० ४६-५०)

मेघदूत पर मदन वात्स्यायन का विडम्बन काव्य (Parody) प्रयोग बड़ा रोचक है—

अपनी ग्रामीण वधू से युगों से बिछुड़ा
वह यक्ष
मेमसाहब के फुदकने से उल्लसित बंगले के पास
कलकत्ते में
पेट का मारा, जुट-मिल का मज़दूर बना,
रहता है वर्षों से अस्वास्थ्यकर रीति से मिल में
खटते-खटते उसके दुर्बल हुए शरीर में
उसकी धराऊ सदरी अब बहुत ढीली पड़ती थी।
बरसात में एक रोज़
कारखाने की चिमनी के ऊपर
धुएँ के गुब्बारे की तरह मेघ को घिरे देखकर
उस वर्षों के बाद अपनी घर वाली की याद हो आई
× × ×

तो मेघ ! सन्देश क्या भेजूँ !
विरह-निवेदन ?
उसकी तो उम्र ही बीत गई चुपचाप ।
यह नहीं ।
तो क्या कुशल मंगल ?
उहुँक् ।
कुशल क्या, मंगल क्या ?
नहीं मेघ
रुपया भेजने का वायदा ?
जब इन सत्रह वर्षों में लाख सर पटकने पर भी
कुछ बचाकर न भेज सका
तो आज असंभव वायदा क्या भेजूँ ?
और फिर सन्देश भेजूँ भी किस मुँह से
जब मेरी घर वाली का स्थान बुधिया ने ले रखा है
और हम दोनों के दो बच्चे भी हो चुके हैं !

'नागार्जुन' ने 'निराला' का एक रेखा-चित्र खींचा है जिसमें गद्य-पद्य की सीमा तिरोहित हो गई है—

क्या कारण है ?
हँसते हो तुम खिल-खिल-खिल-खिल
खः खः खाह-खाह-खा
क्या कारण है ?
रोते हो तुम बहा बहा कर आँसू
बुक्का फाड़ फाड़ कर
क्या कारण है ?
बोल रहे हो बिड़-बिड़-बिड़-बिड़
उठा उठा तर्जनी न जाने किसे शून्य में डाँट रहे हो !
फाड़ फाड़ कर आँख, भौं कुंचित करके

× × ×

बुद्धि विमल है
प्रखर चेतना
स्फीत धारणा-शक्ति
याद रहती हैं बातें
उत्तर देते हो पत्रों के
पाँच सात दस, बीस तीस चालीस रुपैया
आये दिन भी मनिआर्डर भेजा करते हो
एक एक कूपन सँभाल रक्खा है तुमने ।

(नई धारा, व० १ अं० ८ पृ० ६०-६१)

कभी-कभी साहित्य—क्षेत्र में कीर्तिलब्ध कवि भी जब उनके अन्तर से अनुभूति का कोष रिक्त हो जाता है—उनके हृदय में किसी सत्य का आलोड़न-विलोड़न नहीं उठता—तब वे काव्य के रूप के साथ खिलवाड़ कर अपना मनोरंजन करने लगते हैं और तभी साहित्य के सजग प्रहरी चिंतित दिखाई देने लगते हैं। प्रयोग में भी कला-विशेष का सृजन हम आवश्यक समझते हैं। कवि क्षण क्षण नवीनता के दर्शन के लिए व्याकुल रहता है—(क्षणे क्षणे यन्नवता मुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः)। अतः प्रयोगशील होना कवि का धर्म है। नवीनता का सौन्दर्य उसके प्राणों का स्पंदन है। हिन्दी के प्रयोग वादी कवि यदि अपने हृदय की तड़पन को नूतन कलात्मक प्रयोगों में उतार सकें—जैसा कि कुछ कवि कर भी रहे हैं—तो आधुनिक कविता का गत्यावरोध समाप्त हो सकता है।

---

३. साहित्य में वाद और प्रयोग क्यों ?

आज का हिन्दी साहित्यकार गत्यावरोध मिटाने के लिए वादों की खोज मे बुरी तरह व्यस्त है। साहित्य सम्प्रदाय से सृष्ट नहीं होता, उसके सृष्ट होने के बाद लोग उस पर सम्प्रदाय का आरोप करते हैं और साहित्य से प्राप्त होने वाले सहज रस से अपने को पराङ्मुख करते हैं। "कालिदास का साहित्य बुर्जुआ—पोषक है, शेक्सपियर बुर्जुआ-समाज का चित्रक है, इसलिए ये दोनों साहित्यकार कवि नहीं हैं" का नारा लगाने वाले सम्प्रदायवादियों-कठमुल्लाओं-से क्या कम हैं ? कालिदास के शब्दों में जो प्राचीन है वह सब साधु' नहीं है। इसी तरह जो आधुनिक है वह सब 'असाधु' नहीं है। हमें साहित्य को परखने के लिए सहृदय और उदार होने की आवश्यकता है।

साहित्य हृदय की मरोर से उत्पन्न होता है, किसी वाद को पढ़कर नहीं और यह मरोर सिर पर घास का बोझा ढोने वाली कृशकाय नारी की दुर्दशा के अनुभव से उठ सकती है और किसी अट्टालिका में सुमन-सेज पर 'प्रिय'-वियोग में करवटें बदलने वाली कनकछरी-सी कामनी की दशा देख कर भी। साहित्य किसी वर्ग का नहीं होता, पूर्ण समाज का होता है। अतः साहित्य की कसौटी उसमें प्रतिविम्वित होने वाली ईमानदारी है, 'वाद' नहीं। जो साहित्य हर युग में अपनी ताज़गी कायम रख सकता है, वही जीवित रहता है और वही प्रगतिशील है। प्रगतिशील साहित्य युग सापेक्ष नहीं—युग निरपेक्ष होता है। साहित्य के साथ जहाँ 'वाद' मिल जाता है वहाँ वह घिर जाता है, बन्धन में फँस जाता है। यह बंधन राजनीति का हो सकता है, समाज-नीति का हो सकता है और धर्म-नीति का भी। कवि को घेरे से बाहर जाने का निषेध-पत्र मिल जाता है, उस पर १४४ धारा लग जाती है। पंख कटा हुआ साहित्य किसी 'वाद' का प्रचार ही कर सकता है, जो समय आने पर आँधी के

समान हहर कर विलीन हो जाता है—उसका छिछला प्रवाह सूख जाता है। परिस्थितियों पर लिखा हुआ साहित्य परिस्थिति बदल जाने पर विस्मृत हो जाता है। परन्तु मानव की शाश्वत भावनाओं पर जिस साहित्य के प्राण जन्म लेते हैं, उस पर विस्मृति की धूल नहीं जमने पाती। सूर, तुलसी, कबीर आदि का साहित्य प्रगतिशील है, इनके साहित्य में जीवन का तादात्म्य है, कठिन साधना है, अपनी अभिव्यक्ति के प्रति ईमानदारी है। क्या यही बात आज के प्रगतिवादी साहित्य के सम्बन्ध में कही जा सकती है? क्या उसके सरजनहार अपनी अभिव्यक्ति के साथ समरसता स्थापित कर सके हैं? क्या उनका जीवन हल, हँसिया, हथौड़ाधारियों के साथ पसीना और आँसू बहा रहा है? हम तो उनमें बौद्धिक सहानुभूति मात्र देखते हैं, कल्पना का विलास और चमत्कार पाते हैं। रूस के प्रसिद्ध साहित्यकार गोर्की के साहित्य में स्पंदन है क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति और जीवन में तादात्म्य रहा है। उसका साहित्य गतिशील है।

गत वर्ष (१९५० ई०) के नोबल पुरस्कार विजेता विलियम फॉकनेर के साहित्य में यही बात पायी जाती है। वह अपने देखे और भोगे हुए जीवन को विशेष महत्त्व देता है। इसीलिए उसके उपन्यासों के पात्र बार-बार हमारी आँखों के सामने आते हैं। जान पड़ता है, उपन्यासकार जिन व्यक्तियों के बीच में चलता-फिरता है, उनको ही वह भिन्न-भिन्न रंगों में साहित्य में उतारता रहता है—चित्रित करता रहता है। ईमानदारी साहित्य को जीवित रखती है। साहित्य-सृजन का एक ही सूत्र है–एक ही मंत्र है—वह है 'मनुष्य के जीवन को समझिए। अपने मित्रों और परिचितों की प्रवृत्तियों का अध्ययन कीजिए।' बस, साहित्य-निर्माण सरल हो जायगा। अपने पात्रों की खोज में बड़े-बड़े ग्रंथों के पन्ने उलटना व्यर्थ है। सुबह से शाम तक हमारी आँखों के सामने चलता-फिरता जीवन पढ़कर भी यदि हम साहित्य सृष्ट न कर सके तो समझ लेना चाहिए कि हम में ही कहीं कमी है। या तो हम शब्दों के दरिद्र हैं या हमारी निरीक्षण शक्ति शिथिल है। यहाँ यह कहने का आशय नहीं है कि महान साहित्यकारों के ग्रन्थों का अध्ययन अपेक्षित नहीं है। मेरा आशय यही है कि स्वयं अनुभूत तथ्य साहित्य को अधिक प्राणवान् बनाता है।

यों तो, दीपक से दीपक जलता है, एक पतिभा दूसरे में आलोक भरती है पर परावलम्बन एक हद तक ही वांछनीय है।

यदि प्रगतिवादी साहित्यकार अपने साहित्य को प्रगतिशील बनाना चाहते हैं तो उन्हें राजनीतिक संकुचित घेरे को तोड़कर और प्रचार-रूढ़ियों से मुक्त होकर—दलितों और पीड़तों के बीच अपना जीवन यापन करना होगा। उनके अभावों के उत्पीड़न को जब तक वे स्वयं अनुभव नहीं करेंगे, उनकी अभिव्यक्ति में गति नहीं अनुभव होगा।

प्रगतिवादियों की विषय-सीमा की संकीर्णता से खीझकर या ऊबकर 'अज्ञेय' आदि प्रयोगवाद की चर्चा करने लगे हैं। यह 'वाद' विषय की सीमा नहीं मानता, अभिव्यंजना की नूतन रूप-रेखा पर विश्वास करता है। नए भाव नई उपमा, नई कल्पना उसके प्राण हैं। प्रयोग में अभिनवता का महात्म्य आज का ही 'वाद' नहीं कहा जा सकता। युग-युग से कवि अभिनव कल्पना का आकांक्षी रहा है और युग-युग तक रहता आयेगा। यदि हिन्दी के कलाकार साहित्य में नूतनता की सृष्टि करना चाहते हैं तो उनका अभिनंदन किसका धर्म न होगा? पर इस यंत्र-युग के साधनों से-उपकरणों से-हमारी आत्मीयता बढ़ नहीं पायी है। जब तक हमारा रागात्मक सम्बन्ध इनसे नहीं हो पायगा, तब तक उससे ली हुई कल्पनाएँ हममें साधारणीकरण नहीं उत्पन्न कर सकेंगी। प्रयोगवादियों को अधिक अपरिचित उपमानों की खोज नहीं करनी चाहिए। नहीं तो उनकी रचनाएँ भी कबीर की उलटवासियाँ या सूर के दृष्टिकूट बन जायेंगी। युग ने ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति की है। वह सरस साहित्य में न उतरे यह मेरा आग्रह नहीं है। पर जब तक नूतन आविष्कारों से जन-मन रंजित नहीं हो जाता, तब तक उनका स्वीकार रसकारी नहीं बन सकता और जब साहित्य रसकारी नहीं हो पाता, उसमें स्थायित्व भी नहीं आ सकता। 'रसकारिता' से मेरा तात्पर्य उस प्रभाविता से है जो हृदय को झकझोर देती है। यदि प्रयोगवादियों का लक्ष्य केवल प्रयोग और आत्मसुख है तो बात ही दूसरी है। वह स्वान्तः सुखाय का ही साहित्य हो सकता है, 'बहुजन सुखाय' का नहीं। क्या प्रयोगवादी अपने साहित्य को अपने तक ही सीमित रखना चाहते हैं या

बहुजन तक भी उसे पहुँचाना चाहते हैं ? साहित्य के ये प्रश्न हैं जिन पर हमें गंभीरता से विचार करना चाहिए । इतना लिखने के बाद 'आलोचना' (दिल्ली) की दूसरी संख्या में यह पढ़ने को मिला—"अज्ञेय के नये उपन्यास 'नदी के द्वीप' को पढ़कर जैनेंद्रजी ने मुझे जो पत्र लिखा है वह इतना मार्मिक और प्रस्तुत प्रसंग के लिए संगत है कि हमें ज्यों का त्यों उद्धृत करना आवश्यक हो गया है—

'भाई शिवदानजी,

यह 'नदी के द्वीप' की आपको प्रति आपको आती है। अभी पढ़कर (?) चुका हूँ। सोच में हूँ कि क्या समझूँ ? . . . .लेखक बड़े हैं। लेकिन मैं क्या सोचूँ, समझ नहीं आ रहा है। अपने को खाली हाथ पाता हूँ। सोचता हूँ, पढ़ते हुए कहीं मैं भींगा क्यों नहीं, डूबा क्यों नहीं ? लेकिन यह शिकायत किससे ? आखिर यह शिकायत मेरी मुझ पर लौट आती है। क्योंकि लेखक ने साढ़े चार सौ पन्नों में अपना मर्म ही मर्म देना चाहा दीखता है। हममें लगता है, मैं ही अभागा हूँ। पढ़ते समय मुझे दीखता रहा है कि किताब का 'भुवन' बहुत ही खास है। 'रेखा' और 'गौरा' प्रियाएँ उसी की हो सकती हैं। उनका प्रेम सबका नहीं, सब जैसा नहीं है, साधारणगत (साधारणीकृत) होने के लिए नहीं है। वह कुछ इतना दो के बीच का निजी है कि अपनी अतिशयता में ही उसे बन्द माना जाय। अतः वह गोपनीय है। मानों उन दो के (मिथुन में) ही उसकी चरितार्थता है। मैथुन कहाँ दुर्लभ है ? कौन उसके भोग का साधन नहीं हुआ ? पर प्रत्येक मैथुन मिथुन से बाहर व्याप्ति नहीं पाता। उस (विशिष्ट) मिथुन को समाकर और उसमें आप समकर ही रह जाता है। बाहर किसीको वह छू नहीं पाता।

इस पर श्री शिवदानसिंह की टिप्पणी है—"जैनेन्द्रजी कोई साधारण पाठक नहीं हैं। वे स्वयं एक बड़े लेखक और उपन्यासकार हैं ! अज्ञेय कम से कम जैनेन्द्र जैसे संवेदनशील और भावुक पाठक तो पहुँच ही जाना चाहेंगे; जिन्हें अपनी बात समझा सकें। आश्चर्य है, फिर भी जैनेन्द्रजी को 'नदी के द्वीप' पढ़कर कोई उपलब्धि न हो पायी, और न 'अज्ञेय' उन्हें वह महत्त्वपूर्ण बात ही समझा

पाये, जिसे सबल और चमत्कारिक ढंग से कह पाने के लिए उन्होंने दस-पन्द्रह वर्ष से काव्य और उपन्यास में प्रतीकवादी शैली के प्रयोग किये हैं।

इस कारण ही 'प्रयोग' और प्रयोगशीलता के नाम पर प्रतीकवादी (सिम्बालिज़्म) और बिम्ववाद (इमेजिज़्म) की जो मिली-जुली प्रवृत्ति, विशेषकर इन दिनों, हिंदी काव्य की विशेष धारा बनती जा रही है, एक आलोचक की हैसियत से उसकी जाँच-परख करने का दायित्व हम पर है।"

श्री शिवदानसिंह के समान सभी हिंदी के सजग पाठक को निरपेक्ष भाव से अपने साहित्य की इस प्रवृत्ति की छान-बीन करनी चाहिए। साहित्य जब 'वाद' का क्रीत बन जाता है तब उसकी व्यापक अपील कम हो जाती है, वह सबकी नहीं, कुछ की वस्तु बनकर, काल-कवलित हो जाता है। यदि अज्ञेय और उनके सहयोगी साहित्यकार केवल 'प्रयोग' में ही अपनी शक्ति का ह्रास करते रहे तो वे जैनेन्द्र के समान उच्च-कोटि के हिंदी पाठक आज कितने प्राप्त कर सकेंगे ? फिर प्रश्न उठता है—"उनका यह हविष्य किस देवता के लिए है ?" यद्यपि अज्ञेय 'साधारणीकरण' के महत्त्व को अस्वीकार नहीं करते तो भी ऐसा लगता है कि वे उसे साध नहीं पा रहे हैं। अपने आदर्श ईलियट के पद-चिह्नों पर चलकर हिंदी में जिस प्रतीक-शैली को वे चलाना चाहते हैं, वह आज उन तक ही शायद सीमित है। हम साहित्य को बँधी-बँधाई रीति पर नहीं चलाना चाहते। उसे नये मार्गों से होकर अग्रसर होना ही चाहिये, परन्तु वे मार्ग ऐसे हों जिन्हें कम से कम कुछ साहित्य-पथिक पहिचान तो सकें। 'अज्ञेय' का शब्द-शिल्प मोहक होता है। पाठक उसमें उलझकर बिना प्रशंसा किये नहीं रहता पर उसे यह बोध नहीं हो पाता कि वह किस सत्य को पाकर प्रसन्न है। आंग्लसाहित्य के प्रतीकवादी-फार्मलिस्ट (**Formalist**) जनता में अधिक प्रिय नहीं रहे क्योंकि वे उनतक पहुँच ही नहीं पाये।

फिर प्रश्न उठता है कि क्या समस्त साहित्य जनता तक पहुँचता ही है या उसे पहुँचना ही चाहिए ? क्या कालिदास, भवभूति, माघ, मिल्टन, शेक्सपियर, दाँते, वर्डस्वर्थ, आदि सीधे जनता तक पहुँच सके हैं ? तब क्यों वे आज तक जीवित हैं ? जनता के मुख्यतः तीन स्तर दीख पड़ते हैं—एक वह जो बहुत सामान्य होता है,

जिसके संस्कार जाग्रत नहीं रहते, दूसरा वह जिसके संस्कार जाग्रत रहते हैं और तीसरा वह जिसके संस्कार जाग्रत ही नहीं, परिष्कृत भी होते रहते हैं। यदि साहित्य परिष्कृत और जाग्रत संस्कार की जनता तक पहुँचकर उसे प्रभावित करने की क्षमता रखता है तो वह जीवित रह जाता है। जो कवि संस्कारी जनता को प्रभावित कर सके वे आज तक जीवित हैं। इसका कारण है। जागृत-संस्कार की जनता जिस साहित्य को अपना लेती है उसे वह असंस्कारी जनता तक भी पहुँचाती रहती है। रामायण, श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि के आख्यान क्या अशिक्षित भारतीयों तक संस्कारी जनता द्वारा ही नहीं पहुँचे हैं ? श्रेष्ठ कलाकार संस्कारी जनता के माध्यम द्वारा असंस्कारी अशिक्षित-अर्धशिक्षित जनता तक सहज पहुँच जाते हैं। जब श्री जैनेन्द्र आधुनिक उपन्यास 'नदी के द्वीप' पढ़कर भी अपढ़ रह सके तब 'आलोचना'—संपादक के समान हमारे मन में भी प्रश्न उठता है कि क्या कारण है कि अज्ञेय संस्कारी जन को प्रभावित नहीं कर सके ? यदि उनका 'सत्य' इतना प्रच्छन्न है, अज्ञात प्रतीकों से इतना ढका हुआ है कि उन तक ही प्रकट होकर रह गया है तो उसकी सार्वजनीन उपयोगिता क्या है ? वह किस मन को प्रभावित करने को व्यक्त हुआ ? अज्ञेय की कृतियाँ क्या कलाकार का प्रयोग मात्र हैं ? वे इसे स्वीकार नहीं करते। वे लिखते हैं—"प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है वह साधन है।" पर प्रतीत होता है कि उन्होंने साध्य की अपेक्षा साधन पर अधिक जोर दिया है; जाने-अनजाने। 'कमलेश' को दी हुई उनकी 'इंटरव्यू' में ऐसा मालूम होता है कि वे हिंदी को ऐसी चीजें देना चाहते हैं जो उसमें आज विद्यमान नहीं है। उनका मत है—"आजकल के अनेक लेखक ऐसे हैं जिनकी रचनाएँ पढ़ने के बाद लगता है कि हम हिंदी में जो लिख रहे हैं सब रद्दी लिख रहे हैं—हममें महान् लिखनेवाले कुछ हैं ही नहीं।" (देखिये "मैं इनसे मिला" पृष्ठ १७४) अतः वे असाधारणत्व की खोज में ऐसा कुछ लिख जाते हैं जो जैनेन्द्र जैसे बौद्धिक स्तर के पाठकों को भी ग्राह्य नहीं हो पाता। कला की आत्मा बाह्य रूप (Form) ही नहीं, उसमें निहित वह 'सत्य' भी है जिसे कलाकार अपने में न रखकर दूसरों में संचरित करना चाहता है।

'भारती' का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' कथा-क्षेत्र में अच्छा प्रयोग है।

यद्यपि लेखक ने अपने 'प्रयोग' को—अपने नवीन तंत्र (टेकनिक) को—सँवारने में बड़ी सतर्कता प्रदर्शित की है फिर भी उसे पढ़ जाने पर यह नहीं लगता कि हम अपनी गाँठ का कुछ (समय) खो चुके हैं। लेखक का 'सत्य' तंत्र में ही घुलकर विलीन नहीं हो गया है—हम तक वह पहुँच पाया है। प्रेमचन्द्र के बाद कथा-क्षेत्र में जैनेन्द्र 'त्यागपत्र', अज्ञेय के 'शेखर; एक जीवनी', हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'बाण की आत्मकथा' में कथा के तंत्रीय प्रयोग पाये जाते हैं। तंत्र के प्रयोग वहीं अखर उठते हैं—जब वे बारबार सिर उठाकर कहने लगते हैं—देखो हम कितने सुन्दर हैं !

वही तंत्र-प्रयोग श्लाघ्य है जो सहज भाव से साधारणीकृत हो सके। जो प्रयोगकारी अधिकाधिक 'सामाजिकता विकसित करने को उन्मुख' होना चाहता है, वह असामाजिक (उलझन भरा हुआ दुर्बोध) तंत्र अपना कर न तो स्वयं जीवित रह सकता है और न अपने पाठक में जीवन भर सकता है। ।

---

४. अवधी और 'कृष्णायन' की भाषा

['कृष्णायन' पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र की अमर कृति है। खड़ी बोली के युग में अवधी भाषा की यह रचना प्रतिक्रियावादी कार्य कहा जा सकता है पर 'तुलसी' ने अवधी को साहित्य में कभी अगतिशील नहीं रहने दिया। प्रस्तुत लेख में अवधी की प्रवृत्तियों के साथ महाकाव्य की भाषा का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है]

'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इण्डिया' में ग्रियर्सन ने अवधी को 'पूरबी, बैसवाड़ी और कोसली' कहा है। परन्तु 'पूरबी' शब्द व्यापक है। इसमें भोजपुरी, मैथिली आदि भाषाओं का भी समावेश हो जाता है। 'बैसवाड़ी' शब्द बैसवाड़ा से बना है। उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली और फ़तहपुर जिले बैसवाड़ा के अन्तर्गत आते हैं। अतएव यह नाम अवधी की सीमा को संकुचित कर देता है। 'कोसल' नाम प्राचीन कोसल राज्य का स्मरण दिलाता है, जिसकी सीमा महाकोसल तक पहुँच जाती है। अवधी का एक रूप जबलपुर, मण्डला और छत्तीसगढ़ तक प्रचलित है। ऐसी दशा में अवधी को कोसली से अभिहित किया जा सकता था।

ग्रियर्सन ने इस 'पूरबी हिन्दी' में ये तीन बोलियाँ सम्मिलित की हैं— (१) अवधी, (२) बघेली और (३) छत्तीसगढ़ी। ये बोलियाँ भारत के अवध, आगरा, बघेलखण्ड, बुन्देलखण्ड, छोटा नागपुर और मध्यप्रदेश के कतिपय भू-भागों को घेरे हुए हैं। भाषा-विज्ञानियों ने इसकी सीमा और भी स्पष्ट कर दी है। अवध के हरदोई और फ़ैजाबाद के कुछ हिस्सों को छोड़कर समस्त भाग, सम्पूर्ण बघेलखण्ड, उत्तरपूर्व बुन्देलखण्ड, मिरज़ापुर, छत्तीसगढ़ में यह भाषा व्याप्त है। बघेली और अवधी में बहुत कम अन्तर है। केलॉग ने अपने हिन्दी व्याकरण में बघेली को रीवाँई कहा है और

ग्रियर्सन के समान ही उसे अवधी का एक रूप माना है। छत्तीसगढ़ी पर मराठी और उड़िया का प्रभाव पड़ने के कारण उसमें अवधी से कुछ भिन्नता आ गई है।

ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इण्डिया' की पहिली और छठी जिल्द में 'पूरबी हिंदी' बोलने वालों की संख्या इस प्रकार दी है—

(१) अवधी बोलने वालों की संख्या १६,१४३,५४८
(२) बघेलखण्डी ,, ४,६१२,७५६
(३) छत्तीसगढ़ी ,, ३,७५५,६४३*

अवधी की भाषा-सीमा इस प्रकार है—
उत्तर में—नैपाल की भाषाएँ
पश्चिम में—पश्चिमी हिन्दी की कन्नौजी और बुन्देली
पूर्व में—भोजपुरी
दक्षिण में—मराठी।

अवधी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भाषा-विज्ञानियों ने अनुमान ही लगाया है। अवध प्रान्त शूरसेन और मगध क्षेत्र के मध्य में होने से दोनों क्षेत्रों की भाषा-सम्बन्धी विशेषताओं को लिए हुए समझा जाता है। वर्तमान भाषाओं के पूर्व शूरसेन में शौरसेनी अपभ्रंश, मगध में मागधी अपभ्रंश, और इन दोनों के मध्यभाग में अर्धमागधी अपभ्रंश का प्रचलन रहा होगा। इसी अनुमान पर अर्धमागधी से अवधी के उद्गम का भी अनुमान किया जाता है।[१]

शौरसेनी और मागधी प्राकृतों के अपभ्रंश-रूप ग्रंथों में प्राप्य हैं। परन्तु अर्धमागधी अपभ्रंश के ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। यह बात तो निश्चित

* आज इन आँकड़ों में कई गुनी वृद्धि हो गई है।

१ "Between these two there was a neutral ground the language of which was called Awdhamagadhi which partook the nature of both languages." (Census Report of India 1901, Vol. I, part I, page 303).

ही है कि अवधी का जन्म सीधे प्राकृत से न होकर किसी अपभ्रंश से ही हो सकता है। अवधी ने जिस अपभ्रंश से अपना स्वतंत्र अस्तित्व पाया उसका रूप साहित्य में रक्षित न होने के कारण हमें उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनुमान से ही काम लेना पड़ता है। शौरसेनी, मागधी, पैशाची और महाराष्ट्री प्राकृतों के स्वरूप और उनके परिवर्तन-क्रम वररुचि, हेमचन्द्र, चण्ड, त्रिविक्रम आदि के प्राकृत व्याकरणों, नाटकों तथा अन्य ग्रंथों से ज्ञात हो जाते हैं। उक्त प्राकृत भाषाएँ कालान्तर में स्थानीय बोली-भेद के अनुसार अपभ्रंश भाषाओं में परिवर्तित हो गईं। अवध क्षेत्र की भाषा ने उस समय साहित्य का कोई रूप धारण नहीं किया था। शूरसेन क्षेत्र की बोली ही साहित्य-भाषा बन कर शूरसेन और अवध के क्षेत्रों में बहुत समय तक प्रचलित रही है। अवध या कोसल क्षेत्र पर शौरसेनी का आधिपत्य जमने का क्या कारण है? जिस प्रकार शूरसेन क्षेत्र की भाषा शौरसेनी और मगध क्षेत्र की भाषा मागधी कहलायी, उसी प्रकार अवध या कोसल क्षेत्र की भाषा का नामकरण अवधी या कोसली प्राकृत या अपभ्रंश क्यों नहीं पड़ा? इसका कारण यह है कि जिस समय प्राकृतों और अपभ्रंशों का विकास हो रहा था, अवध प्रान्त गत-श्री अवस्था में था। यूनानी आक्रमणकारी मिनन्दर ने उसे उजाड़ बना दिया था।[१] शताब्दियों तक वह उसी अवस्था में रहा। गुप्तवंश ने उसका पुनरुद्धार किया। यही कारण है कि जहाँ हमें शूरसेन और मगध प्रान्त की साहित्य-कृतियाँ मिलती हैं, वहाँ अवध या कोसल प्रान्त में साहित्य के नाम पर कुछ नहीं मिलता। इसीलिए शौरसेनी भाषा ने पश्चिम से और मागधी ने पूर्व से इस क्षेत्र की भाषा को प्रभावित किया। अतः यदि अवधी में उक्त दोनों क्षेत्रों की भाषाओं के लक्षण पाये जाते हैं, तो क्या आश्चर्य है?

ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इण्डिया' की प्रथम जिल्द में पूरबी हिन्दी के निम्न-लक्षण प्रस्तुत किये हैं—

---

[१] He (Menander) advanced about 175 B. C. with the strong force into the interior of India......and Saket in south of Oudh—The Oxford History of India, Vincent A. Smith, page 118.

(१) उच्चारण में पूरबी हिन्दी मुख्यतः पश्चिमी हिन्दी का अनुकरण (?) करती है। परन्तु संज्ञा-रूपों में वह बिहारी की अनुगामिनी है।[1] 'इसके सर्वनाम-रूप भी बिहारी के समान होते हैं। उदाहरण के लिए, सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम प्रथम पुरुष पश्चिमी हिन्दी में **मेरा** है, परन्तु पूरबी हिन्दी (अवधी) में **मोर** है।

(२) क्रिया-रूपों में पूरबी हिन्दी की स्थिति ठीक मध्य की है। उदाहरण के लिए, पश्चिमी हिन्दी (खड़ी बोली) में **मारना** क्रियापद का भूतकाल **मारा** होता है और बिहारी में **मारिल**। पश्चिमी हिन्दी में उसने **मारा** के लिए भी **मारा** रूप होता है, पर बिहारी में **उसने मारा** के लिए केवल **मारिल** नहीं, **मारिलस** होता है—न के आगे **स** प्रत्यय जुड़ता है। (यह प्रत्यय स्पष्टतः संस्कृत **सः** का उत्तराधिकारी है—लेखक) पूरबी हिन्दी में, **मारिया** (पश्चिमी हिन्दी के रूप) में बिहारी रूप **स** जुड़कर **मारियस** बन जाता है पर उच्चरित होता है **मारिस**। पूरबी हिन्दी में बिहारी के समान **ल** नहीं जुड़ता। भविष्यत्-काल में पूरबी हिन्दी में **मैं मारूँगा** का रूप **मारब** होता है, पर वह **मारेगा** का रूप **मारिहै** होता है, जो पश्चिमी हिन्दी का रूप है।

भौगोलिक स्थिति को देख कर ग्रियर्सन ने पूरबी हिन्दी को अनुमानितः अर्धमागधी से उत्पन्न कहा है। व्रज-भाषा और व्रज-साहित्य के विद्वान् कवि जगन्नाथदास रत्नाकर ने अवध अथवा कोसल के क्षेत्र को भी शौरसेनी क्षेत्र में सम्मिलित किया है। वे 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' में (पृ० ३८५-३८६) लिखते हैं, "शौरसेनी क्षेत्र में यद्यपि अनेक रूपों की प्रान्तीय भाषाएँ तथा बोलियाँ प्रचलित थीं तथापि वे निम्नलिखित भेदों में विभक्त हो सकती थीं—

(१) राजपूतानी—मारवाड़ी, मेवाड़ी, जयपुरी आदि।

(२) मध्य-भारती—ग्वालियरी, बुन्देलखंडी इत्यादि।

---

[1] **बिहारी को मागधी की उत्तराधिकारिणी मान कर ग्रियर्सन ने यह विभेद किया है।**

(३) अन्तर्वेद-प्रान्तीय—पश्चिम-प्रान्तीय अर्थात् ब्रजभाषा, पूर्व-प्रान्तीय अर्थात् कन्नौजी, बैसवाड़ी, अवधी इत्यादि ।

(४) हिमालयी—गढ़वाली, कमाऊनी, नेपाली ।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अन्तर्वेद-प्रान्तीय से केवल उतने ही भाग की भाषा अभिप्रेत नहीं है जो गंगा तथा यमुना के बीच पड़ता है; प्रत्युत गंगा के उत्तर तथा यमुना के दक्षिण के कुछ प्रदेशों को भी भाषा के निमित्त अन्तर्वेद के अन्तर्गत समझना चाहिए । शौरसेनी क्षेत्र की भिन्न-भिन्न प्रान्तीय बोलियों के पुराने रूप तो ज्ञात नहीं हैं, पर उनके लिखने-पढ़ने की भाषाओं के पुराने रूप तत्तत्प्रान्तीय उपलब्ध ग्रंथों से लक्षित हो सकते हैं, जैसे रामायण तथा पद्मावत इत्यादि से ।"

डॉ० बाबूराम सक्सेना अवधी का सम्बन्ध ग्रियर्सन के समान अर्धमागधी से जोड़ते हुए झिझकते हैं । फिर भी वे लिखते हैं कि जैन अर्धमागधी ग्रंथों में भाषा का परिष्कृत रूप है, अतः उसके पहिले जो अर्धमागधी प्रचलित रही होगी वही अवधी की उत्पत्ति का आधार हो सकती है ।[1]

'रत्नाकर' पश्चिमी हिन्दी और पूरबी हिंदी की आधार-भाषा एक ही मानते हैं । तो क्या शौरसेनी अपभ्रंश से अवधी का उद्गम माना जा सकता है ? प्रान्तभेद के अनुसार भाषा के रूप में परिवर्तन दिखाई दे सकता है । डॉ० बाबूराम सक्सेना यह स्वीकार करते हैं कि ब्रजभाषा-भाषी अवध के अशिक्षित व्यक्ति से भी विचारों का आदान-प्रदान कर सकता है……सच बात तो यह है कि हिन्दी की पश्चिमी और पूरबी बोलियाँ परस्पर इतनी सन्निकट हैं कि वे केवल अपने निकटवर्ती क्षेत्र में ही नहीं, दूरवर्ती क्षेत्रों में भी समझी जाती हैं ।[2]

'रत्नाकर' ने उत्तरी भारत में अर्धमागधी नामक भाषा-क्षेत्र को न

[1] Evolution of Awadhi, page 10.

[2] वही

मान कर ही शौरसेनी और मागधी क्षेत्र की भाषाओं की प्रवृत्तियों को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"अपभ्रंशों के बनने और प्रयुक्त होने के समय संज्ञा और विशेषण-वाचक अकारान्त पुल्लिग शब्द दो प्रकार के हो गये थे। एक प्रकार के तो वे जिनके कर्ता-तथा कर्म-कारकों के एकवचन-रूप उकारान्त, इकारान्त तथा अकारान्त होते थे, और दूसरे प्रकार के वे जिनके उक्त कारकों के एकवचन-रूप ओकारान्त, एकारान्त तथा अकारान्त होते थे। इन दोनों प्रकार के शब्दों के रूपों में से उकारान्त तथा ओकारान्त रूप शौरसेनी क्षेत्र में बरते जाते थे, इकारान्त तथा एकारान्त रूप मागधी क्षेत्र में तथा अकारान्त एवं आकारान्त रूप शौरसेनी क्षेत्र के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में, अर्थात् पंजाब तथा काबुली सीमान्त प्रान्त में।……अपभ्रंशों में कतिपय वर्णों तथा स्वरों में विशेषताएँ होती थीं। शौरसेनी में संस्कृत शब्दों के **त, थ** के स्थानों पर **द, ध** हो जाता था और मागधी में **ष** तथा **स** के स्थानों में केवल **श** का प्रयोग होता था।"

यदि हम अवधी को शौरसेनी क्षेत्र की भाषा मान भी लें तो भी पश्चिमी और पूरबी हिन्दी में विशिष्ट भेद मिलते ही हैं, जो निम्नप्रकार हैं :—

(१) दो से अधिक वर्णों वाले शब्दों के प्रारम्भ में ह्रस्व **इ** और ह्रस्व **उ** के बाद **आ** का उच्चारण अवधी में प्रचलित है और पश्चिमी हिन्दी में नहीं। **पियार** (अवधी), **प्यार** (पश्चिमी हिन्दी)।

(२) **अ** और **आ** के स्थान पर अवधी में **इ** और ब्रज में **य** की ओर झुकाव है।

(३) **इ** और **उ** के स्थान पर पश्चिमी हिन्दी में **य** और **व** हो जाता है।

(४) **ऐ** और **औ** का संस्कृत-उच्चारण पश्चिमी से लोप हो गया : केवल यकार और वकार के पहिले पाया जाता है। परन्तु यह उच्चारण अवधी में बना हुआ है। **मैया, दैया,** (ब्रज) **औरहु, तैसहि** (अवधी)।

(५) खड़ी बोली और ब्रज की प्रवृत्ति दीर्घान्त शब्दों की ओर है और

अवधी की लघ्वन्त की ओर। हाँ, विशेषण और सम्बन्धकारक सर्वनाम ब्रज में आकारान्त, ओकारान्त मिलते हैं।[1]

(६) साधारण क्रिया के रूप अवधी में लघ्वन्त बकारान्त होते हैं और पश्चिमी हिन्दी में नकारान्त। **चलब, देखब खाब** आदि (अवधी) **चलन, देखन, खावन** (ब्रज०)।

'कृष्णायन' की रचना-शैली समझने के लिये अवधी-व्याकरण की मुख्य-मुख्य बातों का ज्ञान आवश्यक है। नीचे कारक-चिह्न दिये जाते हैं—

कर्ता—कोई चिह्न नहीं।

कर्म—**क, हि** अथवा **हिँ, कहँ, के कौं**।

करण– **सन, से, सौं**।

सम्प्रदान—**क, कहँ, के**।

अपादान—**सन, से, तें, तहँ, तैं**।

सम्बन्ध—**कर, केर, केरा, केरी, के, कै** (स्त्री० **केरि, केर**)

अधिकरण—**म, मा, महँ मह, माहि, माहिँ, माँझ, मुँह, मुहु, मझारि पै, परि, अपरि, पर, पर्यन्त, लागि, लग**।

आकारान्त पद में कभी **आ** का लोप हो जाता है, कभी **आ** के लोप के बाद **वा** प्रत्यय जुड़ जाता है, और कभी **औना**। जैसे-**घोड़ा-घोड़-घोड़वा, घोड़ौना**।

ह्रस्वान्त पद कर्ता एकवचन में अपरिवर्तित रहता है।

"हिन्दी के सम्बन्ध-कारक-चिह्न में लिंग-भेद होता है। अवधी की बोल चाल की भाषा में भेद लक्षित नहीं होता। परंतु साहित्य की भाषा में भेद दिखलाई पड़ता है।" जायसी-तुलसी के समान "कृष्णायन" में भी पुल्लिंग सम्बन्ध कारक-चिह्न **कर** पाया जाता है और स्त्रीलिंग सम्बन्ध-कारक-चिह्न **कै**—

---

[1] पूरबी अवधी में मागधी की प्रवृत्ति के अनुसार ब्रजभाषा के ओकारान्त सर्वनामों के स्थान पर एकारान्त रूप मिलते हैं, जैसे को है (ब्रज) के है (अवधी)।

राम ते अधिक राम कर दासा।
जेहि पर कृपा राम कै होई।
(रामचरितमानस)
कवन पिता कर पूत कहावा। (कृ०, ४४)
बरनि को सकहि अशेष, पाप-कथा तेहि कंस कै
(कृ० १५)

"कृष्णायन" में संस्कृत की सप्तमी विभक्ति के समान भी अधिकरण-रूप मिलते हैं, जैसे—

भाजन छींके बाँधे (कृ० ४३)

अवधी में पै, 'ही' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और 'परन्तु' के अर्थ में भी, जैसे—

सकुचे पै नलकूबर नाहीं। (कृष्णायन पृ० ४६)

यहाँ **पै** 'परन्तु' के अर्थ में प्रयुक्त है।

सर्वनाम रूप **मैं** (खड़ी बोली)

एकवचन	बहुवचन
मैं, हौं	**हम**
मो, मोहि, मोहिं	**हम, हमहिं**
मोकहँ	**हमकहँ**
मोसन	**हमसन**
मोतें	**हमतें**
मोर	**हमार**
मोहि, मोपहँ	**हमपहँ**

तुम (खड़ी बोली)

तैं, तू, तुइ	**तुम्ह, तुम**
तू, तोहि, तोहिं	**तुम्ह, तुम, तुम्हहिं, तुमहिं**

तोकहँ	**तुम्हकहँ**
तोसन	**तुम्हसन**
तोतें	**तुम्हतें**
तोर, तोरि, तोहार	**तुम्हार, तुम्हारा**
तोहिमहँ, तोमहँ	**तुम्हमहँ**

"कृष्णायन" में **तुम्हार** के लिये **तव, तुव** रूप भी मिलते हैं।

वह (खड़ीबोली)

वह, सो	**वे, ते, तें, तिन्ह, उन्ह, उन**
तेहि, ताहि	**तिन्हहिं**
तेहिं, ताकहँ, तेहिकहँ	**तिन्हकहँ, उन्हकहँ**
	उन्हहि, तिन्हहि
तासन	**तिन्हसन**
तातें	**तिन्हतें**
तासु	**तिन्हकर**
तामहँ	**तिन्हमहँ**

को और **के** तथा **जो** और **जे** के रूप भी क्रमशः **सो** और **ते** के रूपों के समान होते हैं। "कृष्णायन" में सर्वनाम के **उन्ह तुम्ह,** और **तिन्ह** रूप नहीं मिलते,[1] **तुम, तिन** मिलते हैं। **तैं** के स्थान पर **तुइ** भी पाया जाता है—"**तुइ** इनके नहिं गुन कछु जानति" (कृ० ४३)[2]

अवधी में निश्चय-वाचक सर्वनाम (खड़ी बोली **यह, वह**) के रूप ये हैं—

यह

एकवचन	बहुवचन
कर्ता-**इह, ईह, एह, येहु**	**ये** (बैसवाड़ी में)

---

[1] **संयुक्त सर्वनाम के प्रयोग जायसी में अधिक हैं।**

[2] **तुइ रूप कन्नौजी में भी पाया जाता है।**

एकवचन	बहुवचन
(पुरानी बैसवाड़ी में)	ये (बैसवाड़ी में)
ई (आधुनिक अवधी में)	इन, ये (आ अवधी में)
कर्म—इहि, एहि (कहँ)	इनहिं, इन्हें, इनका
संप्रदान—इहि, एंहि, (कहँ)	इन, इन्ह (कहँ) इनका

वह

कर्ता—ओ (पुरानी बैसवाड़ी)	ओ (बैसवाड़ी)
अ (अवधी)	ओ, ओसब (अवधी)
कर्म / सम्प्रदान { ओंहि, वांहि } (कहँ) ओका	उहि, उहैं उन, उन्ह } (कहँ) ओन, ओनसब } का

क्रिया-प्रत्यय

सामान्य वर्तमानकाल

	एकवचन	बहुवचन
प्र.	अउ (अहुँ)	अहिं
म.	अइ, अहि	अहु
अ.	अहि, अइ, उ	अहिं, अई

सामान्य भूतकाल

प्र.	इउं	ए
म.	इस	इव, इउ, ई, इन
अ.	इस, असि इउ, ई, आ	इन, ए, ई

ए और ई प्रत्यय भूतकाल का बोध कराने में बहुत प्रयुक्त हुए हैं

सामान्य भविष्यकाल

प्र. होइहौं, होउब, होबूँ —होइहहिं, होवहिं, होब

म. होइहहि, होवहि, होब, —होइहहु, होव होवो
होइहसि, होवे, होवेस

अ. होइहहि, होवहि, होब, होय—होइहहिं, होवहिं होव, होइहैं

अपूर्ण वर्तमानकाल

एकवचन	बहुवचन
प्र. होत अहेउं, अहउं	—होहिं, होत हहिं, अही
म. होत अहेस, होय, होइ, होहि, होसि	—होत अहें, होत अहौ; होहु हहु
अ. होत अहै, होसि, होहि होइ, होय, हो, होत	—होत हहिं, होत अहैं

पूर्ण भूतकाल

प्र. भयेउ रहा (रही स्त्री०) भे रहे (भयी रहीं स्त्री०)

म. भयेस रहा (भै रही स्त्री०) भये रहे (भयी रहीं स्त्री०)

अ. भया रहा (भै रही स्त्री०) भये रहें (भयी रहीं स्त्री०)

अपूर्ण भूतकाल

प्र. होत रह, होत रहेउँ—होत रहे

म. होत रह, होत रहेस—होत रहेहुँ, होत रहथी

अ. होत रह, होत रहा—होत रहे, होत रहें

"शुद्ध अवधी की बोलचाल में क्रिया का रूप सदा कर्ता के पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार होता है, कर्म के अनुसार सकर्मक भूतकालिक क्रिया में भी नहीं होता।"

-अत प्रत्यय क्रिया में दोनों वचनों और सब पुरुषों में प्रयुक्त होता है:—

इच्छत एक छत्र मैं राजू। (कृष्णायन)

रुचत जिनहिं नहिं हरिचरित। (कृष्णायन)

-आ प्रत्यय विशेषण और क्रिया दोनों रूपों में पाया जाता है, क्रियारूप में सब पुरुषों में प्रयुक्त होता है। यदि क्रिया सकर्मक हुई तो वह कर्म के लिंग-वचन के अनुरूप होता है। यदि क्रिया अकर्मक हुई तो कर्ता के वचन और पुरुष के साथ चलता है :—

बीचि-बिलास मंजु मन भावा। (कृष्णायन, पृष्ठ ५१)

हि खड़ीबोली के **ही** के समान जोर देने के अर्थ में प्रकृतिपद के साथ जोड़ा जाता है—तुलसी शैलि**हि** मोहिं प्रिय लागी। और **हूँ** 'भी' के अर्थ में जोड़ा जाता है—

होत सगुन निर्गुण हुहिँ
लखति भूमि भगवान।
× × × × ×
अघासुरहु मूँदेउ वदन
निरखि पूर्ण निज काम। (कृ० ४२)

अवधी में शौरसेनी के समान तालव्य **श** नहीं है और मागधी की तरह मूर्धन्य **ण** भी नहीं है। इनके स्थान में दन्त्य **स** और **न** का उपयोग होता है। परन्तु 'कृष्णायन' में **श** और **स**, **ण** और **न** दोनों रूपों से काम लिया गया है। **ज्ञ** वर्ण तुलसी और जायसी में **ग्य** रूप में मिलता है, पर 'कृष्णायन' में **ज्ञ** का प्राकृतीकरण प्रायः नहीं है। हाँ, **ष** को डिंगल के समान **ख** रूप में भी कहीं-कहीं स्वीकार किया गया है—भाँति अनेक पुराणन **भाखा** (कृ० ७)। अवधी में एकवचन अकारान्त कर्मकारक संज्ञा में **उ** का प्रयोग भी मिलता है, जैसे **समाजु, राजु**।

प्रश्न उठता है, खड़ी बोली के युग में कवि ने अवधी को क्यों अपनाया ? इसका उत्तर कवि ने स्वयं दिया है—

तुलसी शैलिहि मोहिं प्रिय लागी।
भाषहु बिन विवाद रस पागी॥

कवि को तुलसी की प्रबन्ध-शैली प्रिय है और उनकी भाषा भी। साथ ही वह अपने लोक-संग्राहक काव्य के लिए ऐसी भाषा अपनाना चाहता था जिस पर कोई विवाद प्रचलित न हो।

आधुनिक हिन्दी काव्य के इतिहास से विदित होता है कि काव्य-भाषा के सम्बन्ध में हरिश्चन्द्र-काल से विवाद चला आ रहा है।[1] युग-प्रवर्तक हरिश्चंद्र स्वयं खड़ी बोली को काव्य के अनुरूप नहीं मानते थे। बालकृष्ण भट्ट का मत था—"व्रज भाषा में यद्यपि कुछ मिठास है, पर वह इतनी जनानी बोली है कि इसमें केवल शृंगार के अतिरिक्त दूसरा रस आ ही नहीं सकता। हमें बैसवाड़े की मर्दानी बोली सबसे अधिक भली मालूम होती है।" इसके विपरीत पं० पद्मसिंह शर्मा 'साँकरी गली में माय काँकरी गड़तु है' के समान व्रजभाषा-पदावली के माधुर्य पर मुग्ध थे। वे काव्य-प्रतिभा को सब कुछ मानते थे, भाषा का कोई भी रूप हो, उनके अनुसार कवि उसमें किसी भी रस को भर सकता है। द्विवेदी-युग में गद्य और पद्य की भाषा को एक करने का जबरदस्त आंदोलन चलता रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि 'प्रसाद', 'हरिऔध', 'शंकर' आदि व्रजभाषा से खड़ी बोली में आ गये और यह उसी आंदोलन का परिणाम था कि खड़ी बोली मँजते-मँजते छायावाद-युग तक पर्याप्त परिमार्जित हो गई। 'प्रसाद', पंत, 'निराला' और महादेवी ने उसे सरसता और कोमलता प्रदान करने में बड़ा योग दिया है। पर उनकी भाषा की संस्कृत-बहुलता और लाक्षणि-

---

[1] हरिश्चन्द्र के पूर्व राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह में भी भाषा के रूप पर विवाद चलता रहा है। पर विवाद गद्य-भाषा के सम्बन्ध में था। राजा शिवप्रसाद ने अपने "भाषा का इतिहास" में लिखा है, "हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम फहम व खास पसन्द हों—हर्गिज गैर-मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए और न संस्कृत की टकसाल क़ायम करके नये ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिए।" रघुवंश की भूमिका में राजा शिवप्रसाद की भाषा-नीति के उत्तर में उनके समकालीन राजा लक्ष्मणसिंह ने लिखा है—"हिन्दी में संस्कृत के पद आते हैं और उरदू में अरबी-फ़ारसी के—यह आवश्यक नहीं कि अरबी-फ़ारसी शब्दों के बिना हिन्दी बोली जाय—न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द भरे हों।"

कता भी विवाद का कारण बन गई। एक संप्रदाय आमफ़हम भाषा को काव्य-भाषा बनाने के पक्ष में पुनः खड़ा हो गया।[१] इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक काव्य-भाषा के सम्बन्ध में विवाद का अंत नहीं हो रहा है।[२]

अवधी को अपनाने का दूसरा कारण कवि ने यह दिया है कि वह 'रसपागी' है। डॉ० बाबूराम सक्सेना इसे कर्कश कहते हैं।[3] पर आचार्य शुक्ल के समान हम भी इस मत से पूर्णतया सहमत नहीं होते।[४] पछाहीं बोलियों में पदों को दीर्घान्त करने की प्रायः प्रवृत्ति है और अवधी में लघ्वन्त करने की। लघ्वन्त पदों से भाषा में मार्दव आता है, यह प्रायः मान्य सिद्धांत है। उदाहरणार्थ, पछाहीं भाषा के **भला** या **भलो**, **खोटा** या **खोटो**, **हमारा** या **हमारो**, पीला या

---

[१] "आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने आप सरल हो जाती है। भाव सौंदर्य बनाव-सिंगार से बेपरवाई दिखा सकता है। अमीरों का मुँह जोहने वाला—रईसी रचना शैली स्वीकार करता है, जो जनसाधारण की भाषा में लिखता है।" (प्रेमचंद)

[२] "प्रगति-शील कवि के लिए भाषा को सरल और सुबोध बनाना आवश्यक है परन्तु रीति-कालीन और डिकेडेंट कवियों की भाषा-माधुरी से उसे बचाना होगा।" (डॉ० रामविलास शर्मा, हंस, प्रगति-अंक, पृष्ठ ३१८)

[3] (a) "Baiswada is notorious for its harshness and so is the language of the area" (Evolution of Awadhi, page 1)

(b) "अवधी भाषा कुछ कर्कश है।" रा. ब. हीरालाल, कोशोत्सव स्मारक, पृष्ठ ६४)

[४] (i) "जायसी की भाषा बहुत मधुर है—वह माधुर्य भाषा का माधुर्य है—उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है।" (रामचंद्र शुक्ल, जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ २४७)

(ii) "Language is melodious in enunciation." (L. S. of India)

पीरो, **थोड़ा** या **थोरो**, आदि क्रमशः अवधी में **भल**, **खोट**, **हमार**, **पियर**, **थोर** आदि बन जाते हैं। इसी प्रकार पछाहीं भाषाओं के **खाना** या **खानो**, **देखना** या **देखनो**, **हँसना** या **हँसनो**, **चलना** या **चलनो**, आदि क्रियापद क्रमशः अवधी में **खाब**, **देखब**, **हँसब**, **चलब**, आदि बकारान्त, ह्रस्व रूप हो जाते हैं। (परन्तु छंद के अंत में सुविधानुसार लघ्वन्त पद को दीर्घान्त कर देने की प्रथा है, जैसे—

चंदन सम सुजनन व्यवहारा।
काटेहु सुरभित करत कुठारा॥ (कृ०)

इनके अतिरिक्त अवधी को अपनाने का एक कारण, भूमिका-लेखकों के शब्दों में, 'प्रबन्ध-काव्य के लिये अवधी की उपयुक्तता' है। तुलसीदास ने भी राम-चरित को जब प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत बाँधने का संकल्प किया, तब उन्होंने अपने समय की काव्य-भाषा—ब्रजभाषा—को स्वीकार न कर संभवतः इसीलिए अवधी को अपनाया। राम-काव्य को अवधी में और कृष्ण-काव्य को ब्रज-भाषा में लिखने की परम्परा-सी रही है। 'मानस' की रचना के बाद तुलसी ने भी कृष्ण-लीला गाने के लिए ब्रज-भाषा में 'कृष्णगीतावली' की रचना की। यह हम नहीं कहते कि कृष्ण-काव्य अवधी में बिलकुल नहीं लिखा गया। परन्तु जो कुछ लिखा गया है, उसमें प्रबन्ध-कवित्व की भव्यता नहीं है। वे प्रयत्न बहुत साधारण कोटि के सिद्ध हुए।

'कृष्णायन' को हम कृष्ण-काव्य-परम्परा का काव्य नहीं मानते। "कृष्ण-भक्ति-परम्परा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेम-तत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है। उनके लोक-पक्ष का समावेश उसमें नहीं है"। "कृष्ण-भक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की ब्रज-लीला को ही लेकर चले। क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेम-लक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। महत्त्व की भावना में उत्पन्न श्रद्धा या पूज्य-बुद्धि का अवयव छोड़ देने के कारण कृष्ण के लोक-रक्षक और धर्म-संस्थापक स्वरूप को सामने रखने की आवश्यकता न समझी......फल यह हुआ कि कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गंभीर पक्षों के मार्मिक रूप स्फुरित हुए, न अनेकरूपता

आयी ।......राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला ही सबने गायी ।"[1] वल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्ग के सिद्धांतों को प्रतिपादित करने के लिए भी कृष्ण-काव्य-परम्परा के काव्य लिखे गये और व्रज-भाषा पुष्टि-मार्गियों की भाषा बन गई। इस मार्ग में कृष्ण के प्रति प्रपत्ति-(आत्म-समर्पण-) भाव की प्रधानता है। कृष्ण जिस भाषा में बोलते थे, वही भाषा श्रेष्ठ और मधुर समझी गयी। अतएव सम्प्रदाय का आत्म-निवेदन स्वभावतः व्रजभाषा में हुआ।

'कृष्णायन' के कवि ने कृष्ण का चरित्रांश नहीं लिखा, जो गीतियों में बाँधा जाता, और न कृष्णकाव्य-परम्परावादियों के समान उनके बाल-या गोपीजनवल्लभ-रूप को प्रधानता दी। अतएव कृष्ण-चरित की परम्परा से स्वीकृत भाषा को ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

काव्य में भाषा की सफलता तभी समझी जाती है जब उसमें भाव-व्यंजकता होती है—वह भावानुसारिणी होती है। 'कृष्णायन' की भाषा में उक्त गुण हैं। उसमें नवीन अभिव्यक्तियों का भी टकसाली रूप है।

भूमिका-लेखक कहते हैं, "कृष्णायन की भाषा आधुनिक बोलचाल की भाषा नहीं है, वह है तुलसीदास के मानस की अवधी।" इसका अर्थ यह है कि "कृष्णायन" की भाषा आमफ़हम अवधी नहीं है, संस्कृतनिष्ठ अवधी है। इस कथन में सत्यता है। 'कृष्णायन' में आमफ़हम अवधी का आद्यन्त प्रयोग संभवतः इसलिए नहीं किया गया कि कवि की एकान्त अभिलाषा है—

सुनहि कृष्ण-यश लाख-करोरी।

देश के एक हिस्से में बोली जाने वाली ठेठ अवधी के प्रयोग से देश की संस्कृतोद्भूत अन्य प्रांतीय भाषाओं को बोलने वाली 'लाखों-करोड़ों' जनता तक कृष्ण-यश न पहुँच सकता। इसलिए तुलसीदास के 'मानस' की संस्कृत-प्रचुर अवधी को अपनाया गया है और ऐसा करते समय संस्कृत के तत्सम शब्दों को अधिक संख्या में प्रयुक्त किया गया है। साहित्य और लोक-भाषा को एक रूप देने वाले व्यक्ति तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों को अधिक

---

[1] **हिंदी साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ १९८)**

महत्त्व देते हैं। परंतु तद्भव शब्दों में भावों की गहनता की व्यंजना-शक्ति कम है। अतएव कोई भी शक्तिशाली कृति केवल तद्भव शब्दों के सहारे खड़ी नहीं रह सकती।

कवि ने तत्सम शब्दों को अपनाते समय इतना कड़ा बंधन स्वीकार नहीं किया कि छंदों की आवश्यकतानुसार उन्हें ह्रस्व या दीर्घ रूप भी न दिया जा सके। कवि ने स्थल-स्थल पर तत्सम के साथ तद्भव रूपों का बराबर प्रयोग किया है। साथ ही अतिप्रचलित विदेशी शब्दों, **दरबार, शोर, महल** और **अकाल** आदि का भी प्रयोग किया है।

भूमिका-लेखकों ने समास-पदों का विपर्यय आपत्तिजनक माना है। वे लिखते हैं—"आर्यभाषाओं में जो समास का क्रम है उसका उलटा क्रम कवि ने जगह-जगह अपनाया है, यह उचित नहीं है। उदा०, **दिनप्रति, द्रुमसंदेह, जायावीर, रथप्रति, प्रान्तप्रति, सर्वस्वहृत, पालककर्ण** की जगह होना चाहिए **प्रतिदिन, संदेहद्रुम, वीरजाया, प्रतिरथ, प्रतिप्रांत, हृतसर्वस्व, कर्णपालक**।" हम उपर्युक्त मत से सहमत नहीं है। आर्य-भाषाओं में समास-क्रम में उलट-फेर पाया जाता है। काव्य में तो उदाहरणों की कमी नहीं है। स्वयं डॉ. सक्सेना ने अपनी Evolution of Awadhi में स्वीकार किया है कि In modern Awadhi so in the old language the normal order of words is often violated (page 325)......In poetry and songs the normal order of words is found generally disturbed (page 327) (आधुनिक अवधी और पुरानी अवधी में भी वाक्य-रचना में पदों की क्रम-रक्षा प्रायः नहीं हो सकी। कविता और गीतों में तो बहुधा क्रम-भंग पाया जाता है।)

सन्देहद्रुम, वीरजाया, कर्णपालक आदि तत्पुरुष समासों के विपर्ययरूप के सम्बन्ध में पाणिनि ने भी छूट दे दी है। उनका एक सूत्र है—**राजदन्तादिषु परम्**। (**दन्तानां राजा इति राजदन्तः**)। सामान्यरूप से समासपद **दन्तराज** होना चाहिए, परन्तु होता है **राजदन्त**। पाणिनि ने उलटे समासों के कुछ उदाहरण देकर 'आकृतिगण' लिख कर अनुल्लिखित उलटे समास-पदों के

औचित्य का समर्थन कर दिया है। अतः हम 'कृष्णायन' में प्रयुक्त उलटे तत्पुरुष समासों को 'आकृतिगण' के अन्तर्गत ले सकते हैं। जायसी में भी तत्पुरुष समास के विपर्ययरूप मिलते हैं।[1]

हत-सर्वस्व के समान बहुव्रीहि सम्प्रय के विपर्ययरूप के सम्बन्ध में भी हमें पाणिनि का प्रमाण मिल जाता है। सामान्य नियम के अनुसार 'निष्ठा' पूर्व में आनी चाहिए। परन्तु इसका अपवाद **वाहिताग्न्यादिषु** में मिल जाता है। इस अपवाद को भी 'आकृतिगण' कहा गया है, अर्थात् इस प्रकार के और भी समास-पद मिल सकते हैं।

अव्ययीभाव समास के विपर्ययरूप **दिनप्रति, रथप्रति, प्रान्तप्रति** के सम्बन्ध में पाणिनि की कोई व्यवस्था नहीं मिलती। फिर भी काव्य में इस प्रकार के प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[2]

सम्पूर्ण कृति की भाषा सबल है—प्रसंगानुसार कोमल और परुष है। भाषा की कोमलता अथवा पद-लालित्य के कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

आनन्द-मुकुलित नेत्रों से सत्यभामा सुरकानन में भ्रमण कर रही है—

विस्मित विहँसित पुलकित बिलसित,
ललित दुकूल अनिल आलोड़ित।

शब्द-योजना में सत्यभामा की चपलता साकार हो उठी है।

इसी प्रकार रुक्मिणी और मोहन की मंजुलता भी दर्शनीय है—

मंजुल रुक्मिणि, मंजुल मोहन,
मंजुलतम रुक्मिणि मनमोहन।

---

[1] (अ) **भा भिनसार** किरिन रवि फूटी। (ब) लीक पखान **पुरुष कर बोली**। (जायसी)

[2] (अ) **नेह नयो दिन** दिनप्रति **उनके चरन कमल चित लावत**। (सूर)
(ब) **वीथिका** बजारप्रति **अटनि** अगारप्रति **पँवरि** पगारप्रति **बानर बिलोकिये**। (तुलसी)

मंजुल महि मंजुल आकाशा,
मंजुल विश्व अपार विलासा ॥

रास-वर्णन की शब्द-योजना रसमयी है—

कबरी शिथिल सुमन झर लागी ।
वदन कमल कच-अलि अनुरागी ॥
लहरत वसन उड़त उर-अंचल
अनुहरि हरिहि विलोल दृगंचल ।
नील पीत-पट लट मुकुट कुंडल श्रुति ताटंक ।
अरुझत एक हि एक मिलि राधा-माधव अंक ॥

बालक अभिमन्यु युद्धक्षेत्र में लड़ रहा है, रोष से भरा हुआ है; सामने असंख्य बलशाली योद्धा खड़े हुए हैं। कवि ने एक ही पंक्ति में ल वर्ण की पुनरावृत्तिद्वारा अभिमन्यु के लड़कपन की सुन्दर व्यंजना की है—

कुन्तल लहरि भाल लहराये ।

वात्सल्य के प्रसंग पर संयुक्त या परुष वर्ण नहीं पाये जाते—

कहेउ कान्ह सुनु मैया मोरी
निसदिन मोहि आवत सुधि तोरी ।
सुमिरि तोहिं जब करहुँ लराई
निमिष माहिं अरि जात पराई ।

'मैया मोरी' में माधुर्य छलका पड़ता है। युद्ध के स्थान पर 'लराई' शब्द बालभाव के सर्वथा अनुरूप है।

इसी प्रकार माता देवकी कृष्ण के शरीर में युद्धव्रण खोज रही है। उस समय का वर्णन है :—

हौरे परसि हरति जनु पीरा । (पृ० ८३७)

'हौरे' में धीमापन है—सतर्कता है, 'र' की आवृत्ति में एक प्रकार की सुकुमारता भी है।

नीचे भाषा की परुषता के कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं :—

कृष्ण का अवतार होता है। उसकी सूचना प्रकृति इस प्रकार देती है—

तड़कि तड़कि उत नभ तड़ित
भरेउ अखण्ड प्रकाश। (पृ० २२)

शब्दोच्चारण से ही बिजली की तड़क कानों के परदे फाड़ने-सी लगती है। इससे भी अधिक कर्ण-विदारक पदावली इन्द्र-कोप के कारण वृन्दावन में जल-प्रलय के समय मिलती है—

लागे बरसन घन प्रलय वही प्रचण्ड बयारि
तड़कि तड़कि तड़की तड़ित अंबर-हृदय बिदारि।

'बयारि' का प्रवाह प्रचण्ड से भयानक हो जाता है, और 'तड़क' की आवृत्तियाँ कानों को बिजली की तड़तड़ाहट से मानो बधिर बनाने का उपक्रम करती हैं।

कौरव-दल में धनंजय का स्यंदन धँसता चला जा रहा है। उसकी गति सुनिए—

घरघर किंकिणि क्वाण कराला। (पृ० ६५६)

'घरघर' शब्द से रथ की चाल का आभास होता है और क्वाण से कर्ण-भेदक 'किंकिणिनाद' की करालता का।

'कार्मुक-मौर्वी' आसानी से नहीं खींची जाती। इसकी व्यंजना निम्न-पंक्ति में प्रयुक्त 'कर्षी' शब्द से हो जाती है—

कर्षी कार्मुक-मौर्वि हठाता। (पृ० ७६)

भयंकरता का भाव निम्न-पदों में उभर उठा है—

(१) **फूटी भभकि प्रभात**[1] **भयंकर।**
(२) **घनतम शिवाशब्द चहुँ ओरा,**
भई भयद रण-धरणी घोरा। (पृ० ६६४)

---

[1] **पंत के समान 'कृष्णायन' के कवि ने भी 'प्रभात' को स्त्रीलिंग मान लिया है।**

युद्ध में सेनानियों की मारकाट मची हुई है—

हत पदाति विदलित मातंगा
भिन्न पंक्तिरथ छिन्न तुरंगा।
खण्डित मस्तक भग्न कपाला
दिशि दिशि कीर्ण शिरोरुह-ज्वाला।

'भिन्न' और 'छिन्न' में वस्तु के टुकड़े-टुकड़े होने का भाव ध्वनित होता है। 'खण्डित...कपाला' में 'छिन्न-भिन्न' की आवाज सुन पड़ती है।

भीम की भयंकरता शब्दों से ही भासित होती है—

महिधर-श्रृंग शरीर विराटा
उत्तमांग पृथु तुंग ललाटा।
वक्ष शैलहिम-शिला विशाला
उत्थित वाम हस्त तरु शाला।
कर दक्षिण पटकोण भयंकर
गदा उदग्र अशनि-प्रलयंकर।

हाथियों के युद्ध का शब्द-रूप देखिए—

करि बृंहण अम्बुद-ध्वनि वारण,
भिरि कीन्हेउ इक एक निवारण।
पुनि टकराने दोउ रण-दक्षा,
युद्धत जनु गिरि सद्रुम सपक्षा।
शुण्ड भँवाय रोष रह राते,
धावत जनु प्रवात मदमाते।
दीर्ण पार्श्व चिग्घार महाना,
गिरेउ धरणि सिंधुर निष्प्राणा।

अभिमन्यु का रोष निम्न-शब्दों में जैसे फटा पड़ता है—

घ्राण अनल श्वासोष्ण प्रवाहा।
धरणि प्रदीपित जनु दिक् दाहा। (पृ० ६१४)

युद्ध-भूमि में आहत सैनिकों का रोष कितना करुण, कितना वन्ध्योपम है—

अबहुँ क्रोध उर दृष्ट रदच्छद।

'दृष्ट रदच्छद' में क्रोध मानों होठों को काट रहा है।

युद्ध की क्षिप्रता का निम्न-पंक्तियों से ज्ञान हो जाता है—

धावत अनियंत्रित समुहायी
चूर्ण विचूर्ण होत टकरायी।
विरथ रथी कहुँ खड्ग उठायी
क्षुब्ध कढ़त वारण-समुदायी।
चढ़त द्विरद-रद कोउ रणमाता
गिरत काँपि तोमर-आघाता।
भग्न-हृदय दुइ-दंत प्रहारा
वमत रक्त कहुँ पतित जुझारा।
धृत उग्रायुध युद्ध मदोद्धत
धावत कतहुँ पत्ति वध उद्यत।
कतहुँ गतायुध कतहुँ सक्रोधा
युद्धत केवल भुजबल योद्धा।
हनत जानु पदतल कर घोरा
करत मुष्टिकाघात कठोरा॥

'धृत उग्रायुध युद्ध मदोद्धत' की परुष पदावली युद्ध की कठोरता को साकार बना देती है। इसी प्रकार 'मुष्टिकाघात कठोरा' में रोषमय प्रहार की कठोरता सुन पड़ती है। 'कतहुँ' की आवृत्ति से तो युद्ध के विस्तार और उसकी क्षिप्र गति से भी हम अवगत हो जाते हैं।

एक ही समय दो विरोधी भावों का चित्रण करते समय कवि की पद-योजना भी किस प्रकार कोमल से परुष हो जाती है, यह निम्न-उदाहरण से स्पष्ट है।

कृष्ण मदमस्त हाथी से लड़ने के लिए आगे बढ़ रहे हैं, उस समय उनका सौकुमार्य—

परिकर पीत उठेउ फहराथी
भाल लता कुंतल छवि छायी।

इन पदों में लहर उठता है। पर जब हाथी सामने आ ही गया है तब उनका सहज-सौम्य मुख कठोर हो उठता है, और कवि के शब्द भी कोमल नहीं रह जाते—

पट कटि बद्ध संयमित केशा
प्रकटेउ, नरसिंह-वेश ब्रजेशा।

हरि के हाथी को पछाड़ते ही जनता में हर्षनाद छा गया। उसकी प्रतीति भी शब्दों में ही कवि ने करा दी है—

कोलाहल कल्लोल करि।
गरजत 'जय ब्रजनाथ'
धँसेउ रंग जन-वारि-निधि।
हहरि लहरि हरि साथ।

जनता को 'वारिनिधि' की उपमा देते ही समुद्र के स्वभाव को भी 'हहरि लहरि' ने व्यंजित कर दिया है, जिसमें जनता का हर्ष और उमंग का भाव अंतर्भुक्त है।

इसी प्रकार विरोधी भाव-चित्रों का शब्द-रूप निम्न-पंक्तियों में भी दिखायी देता है—

यहाँ न गोपी नूपुर रुनझुन
ज्या निर्घोष यहाँ अति दारुन।

जरासंध कृष्ण को देख कर उक्त व्यंग्य करता है। गोपियों के साथ 'रुनझुन' शब्द और युद्धवीर के सम्मुख 'ज्या-निर्घोष' शब्दों की मृदुता और परुषता उनकी उच्चारण-ध्वनियों में ही व्यक्त हो जाती है।

राधा-माधव का विहार यौवन की चपलता लिये हुए है, इसलिए शब्दों में भी चापल्य है :—

नवल पीत पट नवलहि सारी,
नवल कुंज क्रीड़त बनवारी।
नवल जमुन जल, नवल तमाला,
नवल पुलिन नवनव बनमाला।

सार्थक पद-योजना—विशिष्ट 'पद' का काव्य में क्या स्थान है इस सम्बन्ध में हम श्री. एफ्. डब्ल्यू. एच्. मेयर्स के विचारों को उद्धृत करते हैं—In poetry of the first order almost every word continues to be an articulate sound and a logical step in the argument, but it becomes also a musical and a centre of emotional force.[1] इसी सन्बन्ध में ई. एफ् कैरिट का मत है, In poetry words have only a poetical meaning[2]

'कृष्णायन' के कवि ने पदों के चुनाव में बड़ी सतर्कता प्रदर्शित की है; उसमें हमें संदर्भ और भावों के अनुरूप ध्वनि और अर्थ का समन्वय मिलता है। उदाहरणस्वरूप कतिपय पदों की चर्चा की जाती है—

वसुदेव का बहुत समय बाद अपने प्रिय पुत्रों से मिलन हुआ। उनके वात्सल्य की पूर्ण रूप से तृप्ति नहीं हो पायी थी कि विद्याध्ययन के लिए उन्हें अवन्तिकापुरी भेजना अनिवार्य हो गया। उन्होंने दोनों भाइयों को अपनी बहिन को सौंप दिया। उस समय वसुदेव के मन की अवस्था को कवि ने एक ही शब्द में व्यंजित कर दिया है—

सौंपे सुत जनु काढ़ि दृग भगिनि शौरि गंभीर। (पृ० १७१)

'काढ़ि' के उच्चारण में भी कष्ट-सा अनुभव होता है। इसका पर्याय कोई भी शब्द वसुदेव की हृदयगत वेदना को व्यक्त करने में समर्थ नहीं जान पड़ता।

---

[1] Essays Classcial—pages 113-115

[2] The Theory of Beauty—page 270

उत्तरा विधवा हो जाती है। पर अपने गर्भस्थित बालक में अपनी सारी आशाएँ केन्द्रित कर धैर्य धारण कर लेती है। कुछ समय बाद जब अश्वत्थामा प्रतिशोध के रूप में शक्ति द्वारा उसे मार डालता है तब उसकी दशा बड़ी दयनीय हो जाती है, जिसकी अभिव्यक्ति कवि ने एक ही शब्द में कर दी है—

रहति मूक क्रन्दति पुनि कैसे,
हूकति चक्रवाकि निशि जैसे।

'हूकति' में विधवा की वेदना पुंजीभूत हो उठी है। हूक रह-रह कर उठती है, और इस पद का उच्चारण भी हृदय के भाग को गहराई से स्पर्श करता है।

स्यमंतक मणि के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण पर द्वारकावासियों और उनके परिजनों में भी बहुत समय तक संदेह और अपवाद प्रचलित रहा। रुक्मिणी ने नगर में प्रचलित अपवादों की चर्चा जब उनसे की तब कृष्ण बड़े विनोदपूर्ण ढंग से उसका समाधान करते हैं—"बचपन से ही मुझे चोरी की आदत पड़ गई है। बड़े होने पर मैं तुम्हें चुरा लाया। एक बार जो स्वभाव पड़ जाता है, वह छुटाये नहीं छूटता।" यह उत्तर सुन कर भीष्मक-सुता मुसकराने लगती है और उसका सन्देह दूर हो जाता है—

विहँसी सुनि भीष्मक-सुता प्रभु-मुख प्रभु-इतिहास,
हरेउ प्रिया-उर-शोक हरि करत मधुर परिहास॥

'**हरि**' शब्द कितना सार्थक है, इसकी विशेष विवेचना की आवश्यकता नहीं।

कृष्ण मथुरा चले गये हैं। उद्धव उनका सन्देश लेकर वृन्दावन आ रहे हैं। मार्ग में उन्हें वृन्दावन की भूमि निर्जन और द्युति-हीन दिखायी देती है, कुंज अंगारों के समूह जान पड़ते हैं और यमुना—

विरह-विकल यमुना अति कारी
हहरति बहति विरह-ज्वर जारी।

यमुना स्वभावतः काली है पर विरह के ज्वर में जल कर 'अतिकारी' हो गई है, साथ ही उसके जल का जो 'हहर-हहर' [नादमय] प्रवाह है वह

कवि की कल्पना में उसकी ज्वर-दशा का द्योतक है। जब जोर से 'जूड़ी' चढ़ती है तो सारा शरीर हहर उठता है—काँप उठता है। यहाँ ज्वर के साथ 'हहरि' शब्द का ही प्रयोग हो सकता था। सूर में भी यह भाव है, पर उसमें ज्वर को, रूप देने वाली शब्द—योजना नहीं है। 'सूर' केवल वस्तु-वर्णन करते हैं—

देखियत कालिंदी अतिकारी।
कहियो पथिक, जाय हरि सौं,
ज्यों भई विरह ज्वर जारी।

'कृष्णायन' में यह भाव स्पष्ट ही उत्कृष्ट हो गया है।

लाक्षागृह से बचकर पाण्डव बहुत समय तक छद्मवेश में रहने के बाद द्रौपदी से विवाह करते हैं, और जब यह वार्ता अन्धे धृतराष्ट्र तक पहुँचती है तो वह सन्न होकर काँप उठता है—

कहत 'महाभय' भयउ उपस्थित,

× × × × ×

पाण्डुसुतन सह दुरितहुँ मोरा,
प्रकटित भुवन अयश भरि घोरा।

दुरित शब्द छिपे हुए पाप का व्यंजक है। अतएव सर्वथा उपयुक्त है।

'कृष्णायन' में उपयुक्त भाव-व्यंजक पदों की कमी नहीं है। इसके अतिरिक्त कवि ने ऐसे पद भी गढ़े या प्रयुक्त किये हैं जिनका आधुनिक साहित्य—भाषा में प्रचलन अपेक्षित है। उदाहरण—

चक्षुराग अनुराग न साँचा।

Love at first sight के लिए 'चक्षुराग' और 'ताराप्रीति' शब्द भाव-संहृति के अच्छे उदाहरण हैं।

भाँपना के लिए 'चरचना' शब्द भी नूतन प्रयोग है। Opportunist के लिए 'अवसरदर्शी' Vitality के लिये 'महाप्राणता', लफ्फाजी के लिए 'वाक्य-विलास' तथा आँखों और कानों में हर्षातिरेक छाने के भाव को क्रमशः 'दृग-उत्सव' 'श्रुति-उत्सव' से व्यक्त किया गया है। 'युद्धजीवी', 'बुद्धिजीवी' शब्द भी टकसाली हैं। Flowery language के लिए 'पुष्पितवाणी' का प्रयोग हिन्दी में

प्रचलित होना चाहिए। विभोर के लिए निर्भर का प्रयोग 'कृष्णायन' में कई स्थलों पर मिलता है। कबन्ध के लिए 'विशिर' का प्रयोग भी द्रष्टव्य है।

'कृष्णायन' में एक स्थल पर 'वेश' शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। बैठने के अर्थ में कहीं-कहीं 'बासना' शब्द का भी प्रयोग मिलता है—

त्यागि बसन दुःशासन जाई
बसेउ निजासन शीश नवाई। (पृ० ४२८)
बसि महि पांव बरावन चाहा। (पृ० ७६५)
बसेउ बकासुर तेहि मग आई। (पृ० ५०)

एक स्थल पर हाथी की चिग्घाड़ के लिए 'गरज' पद प्रयुक्त किया गया है, जो शेर के लिए रूढ़ है—

मत द्विरद कहुँ दंत बढ़ाई
अश्वावारहि साश्व उठाई।
देहि पँवारि, गरज पुनि धावहिं। (६२५)

यद्यपि 'कृष्णायन' की भाषा परिमार्जित और सुगठित है, तो भी ढूँढ़ने पर 'च्युत-संस्कृति' के कुछ उदाहरण मिल जाते हैं—

हम देखेउ **हरि माटी खाई।** (पृ० ४१)

देखेउ के स्थान पर अवधी में दीख, देखा प्रयोग व्याकरण सम्मत हैं।

सामान्य भूतकाल के उत्तम पुरुष बहुवचन में अकर्मक क्रिया में अवधी में ए प्रत्यय, और सकर्मक में-आ, इन प्रत्यय लगते हैं। 'कृष्णायन' में एक जगह 'इउ' लगा है—

आवत नित हम गैयनि संगा
लखेउ न वन अस कबहुँ विहंगा।

लखेउ के स्थान पर **लखा** रूप व्याकरण-सम्मत है।

कहीं-कहीं तद्भव पद तत्सम के साथ समास बनाता है, जैसे **अठपाद।**
(पृ० १९४)

'कृष्णायन' में एक ही समय एक ही व्यक्ति को तुम और तू से सम्बोधित किया गया है—

सव्यसाचि जो नाहिं तुम, सुनिहौ यह मत मोर,
होइहै निश्चय नाश तौ, अहंकार बश तोर। (पृ० ६१३)

बहुरि कहहुँ तोहि सर्व गुह्यतम
सुनहु धनंजय वचन परम मम।

यत्र-तत्र तुलसी के समान कवि ने शब्दों के संस्कृत व्याकरण रूप भी रहने दिये हैं—

(१) **ये कर्तव्य कर्म कुरु सत्तम।**
(२) **तुमहि विधाता रूप** नमामी।
(३) **जयतु अधर्म दलन** यदुवीरा।
(४) **तजत तिनहिं** जो मोहवशाता।

कहीं-कहीं कवि अन्य पुरुष में कहते-कहते उत्तम पुरुष में भी कह गया है—

अब नहिं ऊखल बँधिहै मइया,
कहिहौं **पुनि न चरावन गइया।**

कहीं-कहीं अतिरिक्त पद-प्रयोग भी मिलता है—

लाजे तजत स्वजन निज नाहीं।
युद्ध माहिं हति निज स्वजन
दिखत श्रेय कछु नाहिं।
निज **और** स्वजन **समानार्थी पद हैं।**

यद्यपि प्रबन्ध-काव्य गीति-काव्य की तरह सर्वथा प्रतीकात्मक या लक्षणा-संकुल नहीं हो सकता, तो भी यहाँ-वहाँ कवि ने शब्दों की लक्षणा-व्यंजना शक्तियों के द्वारा अर्थ में अनूठापन भर दिया है। कृष्ण 'नंदराय' को राधा के साथ देर तक वन में विचरते रहने की सफाई देते हैं—

कहत कान्ह बादर घिरि आवा,
इन मोहि लै यहि कुँज दुरावा।
मोहिं बचावत आपुहि भीजी,
सुनत बैन राधा मन रीझी।

'भीजी' शब्द लक्षणा से यह सूचित करता है कि राधा का हृदय प्रेम-रस से सिक्त है, और 'आपुहि' में शरारत-भरा व्यंग यह है कि मुझ में राधा के प्रति जरा भी आर्द्रता नहीं आ पायी, मै ज्यों का त्यों शुष्क ही बना हुआ हूँ! इसी प्रकार राधा जब अपना परिचय कृष्ण को देती है, तब भी मधुर व्यंजना हुई है—

राधा मैं, तुम कहँ भल जाना,
'चोर-चोर' कहि जग पहिचाना।

'चोर' से राधा के हृदय के चोरी जाने की व्यञ्जना है। 'वीप्सा' द्वारा व्यंग्य और भी गहरा हो गया है।

संक्षेप में, 'कृष्णायन' की भाषा आधुनिक प्रवृत्तियों के अनुरूप है, संस्कृत-तत्सम-बहुला है। यत्र-तत्र तद्भव शब्दों का माधुर्य भी उसमें पाया जाता है। वर्तमान भावों को व्यंजित करने वाली नूतन पद-योजना है जो भावों के साथ ललित और परुष होती गई है। लाक्षणिक और व्यंग्य पदों से अर्थ में विलक्षणता के भी दर्शन होते हैं। कोमल भावों को व्यक्त करते समय भाषा संगीतमयी हो गयी है। यही कारण है कि महाकाव्य में केवल तीन छन्दों के प्रयोग के बाद भी पाठक का मन ऊब से नहीं भर जाता। मुहावरों की स्थिति कहीं भी प्रयत्न-साध्य नहीं है। व्याकरण की अकारण उपेक्षा नहीं पायी जाती। भाषा कारक, सर्वनाम और क्रिया-रूपों के विकल्पों से जटिल भी नहीं है। उससे अवधी की पूर्ण समृद्धि और क्षमता प्रतिपादन हुई है और कवि का उस पर अधिकार भी सिद्ध हुआ है।

---

५. प्रसाद के 'आँसू' का आलम्बन !

छायावाद-युग के प्रवर्तक के नाते 'प्रसाद' की चर्चा आँसू के प्रकाशन के पूर्व से ही होने लगी थी। किन्तु यह चर्चा 'वाद' का केवल ऐतिहासिक महत्त्व रखती थी। ज्योंही 'आँसू की' सृष्टि हुई, प्रसाद इतिहास-गणना के आदि पुरुष ही नहीं रहे, युग की काव्य-प्रवृत्ति की ठीक-ठीक व्यंजना करने वाले प्रतिनिधि कवि के रूप में भी स्वीकृत हुए; इसीलिये 'आँसू' का प्रकाशन छायावाद-युग की ऐतिहासिक घटना माना जाता है। छायावाद की व्याख्या और उसकी प्रवृत्तियों को समझने के लिए किसी साहित्य-शास्त्र के आचार्य का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं। 'आँसू' का अध्ययन ही पर्याप्त है। इसीलिये एक बार हमने लिखा था कि यदि 'आँसू' का प्रादुर्भाव न होता तो छायावाद की भूमि सचमुच अनिर्दिष्ट रह जाती; और अन्तर्भावनाओं की—जो यौवन को झकझोरा करती हैं—अभिव्यक्ति साकार न हो पाती।

'आँसू' के आलंबन के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार के मत प्रस्तुत किये जाते हैं। कुछ आलोचक उसे मानव का विरह मात्र मानते हैं, और कुछ आत्मा का परमात्मा से बिछोह व्यंजित करनेवाला आध्यात्मिक काव्य मानते हैं; और कोई उसमें सृष्टि के विकास का इतिहास भी देखते हैं। प्रत्येक पक्ष अपने समर्थन में 'आँसू' की दो चार पंक्तियाँ सामने रख देता है। यों तो प्रत्येक प्रेम-काव्य में आध्यात्मिक तत्त्व होने का आरोप किया जा सकता है और आँसू में भी उसकी स्थिति सिद्ध की जा सकती है। अध्यात्म पक्ष के समर्थक प्रायः निम्न पंक्तियों का आधार लेते हैं—

> **"ये सब स्फुलिंग हैं मेरी**
> **इस ज्वालामयी जलन के**
> **कुछ शेष चिह्न हैं केवल**
> **मेरे उस महामिलन के।"**

'महामिलन' शब्द से वे यह अर्थ लगाते हैं कि कवि का अपरोक्ष सत्ता से साक्षात्कार हो चुका है। हम 'महा-मिलन' को अलौकिक घटना का प्रतीक नहीं मानते, कवि की लौकिक अनुभूति का ही वह अलौकिक संकेत है। प्रेमी के लिए उसके प्रिय का क्षणिक मिलन—ऐसा मिलन जिसकी पुनरावृत्ति बिलकुल संभव नहीं है—'महामिलन' ही है। इसी महामिलन शब्द को लेकर एक आलोचक ने सृष्टि के मिलन-विरह का उसमें आरोप किया है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने आँसू की निम्न पंक्तियाँ उद्‌धृत की हैं—

"बुलबुले सिन्धु के फूटे
नक्षत्र मालिका टूटी
नभ-मुक्तकुंतला धरणी
दिखलाई देती लूटी।
छिल-छिल कर छाले फोड़े
मल-मल कर मृदुल चरण से
घुल-घुल कर वह रह जाते
आँसू करुणा के कण से।"

आलोचक महाशय इन पंक्तियों का अर्थ करते हैं—"महामिलन की अवस्था में पदार्थ का उष्ण पदार्थ का एक असीम समूह था। उसका कुछ हिस्सा फफोलों के रूप में फूट पड़ा और सागर-रूप में बह चला। पदार्थ के उस असीम समूह से प्रकाश-पुंज के पिंड-पिंड अलग हो गये। ये सब नक्षत्र बन गये। बेचारी यह पृथ्वी नभ-मुक्त होकर यानी उस समय पदार्थ के वृहत्तम समूह से अलग होकर एक विधवा की तरह लूटी हुई दिखाई देने लगी। बर्फ की चट्टानों पर चट्टानें फिसलने लगीं और फिसल कर पृथ्वी के ऊपर सरिता, सागर और सरोवरों के रूप में बन गईं। मानो, आनन्द की उस महा सम्पत्ति के लुट जाने पर ये सब आँसू बहा रहे थे।" परन्तु 'आँसू' को ध्यान से पढ़ने पर लेखक द्वारा निर्दिष्ट 'रूपक' की संगति नहीं बैठती। न कहीं बर्फ की चट्टानों के पिघलने का उल्लेख है, न कहीं आँधी और बिजलियों के चलने-फिरने का। लेखक ने—

'झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला।'

में पहली पंक्ति के 'झंझा झकोर, बिजली और नीरद माला' शब्दों को लेकर यह कल्पना तो कर ली कि यह सृष्टि पर होनेवाला प्रलय-वर्णन है, पर उसी को दूसरी पंक्ति 'पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ डेरा डाला' को सर्वथा विस्मृत कर दिया। यदि वे तनिक विचार करते तो उन्हें 'झंझा', बिजली' और 'नीरद-माला' क्रमशः भावों की हलचल, वेदना और उदासी के प्रतीक जान पड़ते, जो वियोग की दशा में कवि के हृदय को अभिभूत बनाये हुए थे।

इसी प्रकार 'आँसू' को सृष्टि-रचना का काव्य कहकर अन्य पक्तियों का भी असंगत अर्थ लगाया गया है। यह सब 'गड़बड़-झाला' इसलिये हो जाता है कि सामान्य रूप से प्रसाद के प्रतीकों को ठीक रूप से समझने का यत्न नहीं किया जाता। कवि की अभिव्यक्ति व्यापक होती है। पाठक अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थ लगाने के लिए स्वतंत्र हैं, परन्तु अर्थ वही मान्य होना चाहिए जिसका अन्त तक निर्वाह हो सके। प्रसाद को हमने यौवन और प्रेम के कवि के रूप में स्वीकार किया है। इसीलिए आँसू को भी हम मानवीय काव्य मानते हैं। हमारा यह मत आज नहीं बना, आँसू के प्रकाशन के बाद सन् १६२७ में खंडवा के 'कर्मवीर' में उसकी विस्तृत समीक्षा करते समय हमने उसे मानवीय विरह-काव्य कहा था और उसे 'हृदयवाद' को उत्कृष्ट कृति से अभिहित किया था। शुद्ध रहस्यवादी काव्य में स्थूल के प्रति विरक्ति पाई जाती है। चैतन्य 'मनोमय' और 'आनन्दमय' कापों में एकता का अनुभव करता है। आँसू में 'व्यक्त' के प्रति आकांक्षा प्रकट को गई है। इसमें 'स्थूल सौंदर्य' का आकर्षण प्रबल है; जिसके समर्थन में 'आँसू' से अनेक पंक्तियाँ उद्धृत का जा सकती है—'इस हृदय-कमल का घिरना, अलि-अलकों के उलझन में' कवि स्पष्ट ही कहता है कि उसका हृदय 'काली-अलकों' में उलझ गया है। 'अलि-अलक-धारिणी' का नखशिख-वर्णन भी कवि ने बड़े उल्लास के साथ किया है—

(१)"—बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणिवाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से !"
में केश-शृङ्गार है।

(२)—"थी किस अनंग के धनु की
वह शिथिल शिंजिनी दुहरी
अलबेली बाहुलता या
तनु-छवि-सर की नव लहरी।"
में सुकोमल बाहुओं का वर्णन है

(३)—"विद्रुम सीपी संपुट में मोती के दाने कैसे
है हंस न शुक यह, फिर क्यों चुगने को मुक्ता ऐसे ?"

में लाल ओंठ, स्वच्छ दाँत और सुघड़ नासिका का चित्र है। इस प्रकार उपर्युक्त पंक्तियों में नारी का स्थूल रूप 'आलोक-मधुर' छवि के साथ अंकित है। इतना ही नहीं, कवि ने उसका 'सम्भोग शृंगार' भी वर्णित किया है—

"परिरम्भ कुम्भ की मदिरा, निश्वास मलय के झोंके
मुखचन्द्र चाँदनी जल से, मैं उठता था मुँह धोके।"

'आँसू' में 'मलयज की मृदुल हिलोरों' के समान किसी के क्षण भर छू कर छिप जाने की निष्ठुरता का आघात आँखों की राह से बह निकला है। इसीलिए कवि अपने गत-वैभव को बिसूर कर कहता है, 'वह कल्पना थी या सपना था ?' उसके 'हृदय-पुलिन' में सदा से 'प्रणय की कालिंदी' बहती रही है। उसी शिरीष-कोमल प्रणय ने, उसकी शिकायत है, उसका हीरे-सा हृदय कुचल डाला है। विरह की दशा में वह अनुभव करता है, कि प्रेयसी के जिस रूप को उसने आँखों में भर लिया था उसी को बार-बार देखने के लिए आँखें आकुल हो उठी हैं। इस भाव को उसने बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया है—

**'विष प्याली जो पीली थी, वह मदिरा बनी नयन में,
सौंदर्य पलक-प्याले का अब प्रेम बना जीवन में।'**

कवि ने आँसू में अपने को छिपाने का बिलकुल ही प्रयत्न नहीं किया। न जाने क्यों आलोचक कवि की स्पष्ट अभिव्यक्ति पर अनैसर्गिक आवरण डालने के लिए आतुर हो रहे हैं। कहीं उन्हें यह भय तो नहीं है, कि प्रसाद को प्रेम और सौन्दर्य का कवि अभिहित करने से उनका गौरव क्षीण हो जायगा। हमारा तो मत है कि प्रसाद के अन्य रूप की कल्पना करना उनके और उनके काव्य के साथ विश्वासघात करना है। आज शेली, कीट्स, बायरन, गेटे आदि की प्रेम और सौंदर्य की रचनाओं तथा उनकी प्रेरक भौतिक आकृतियों से परिचित हो जाने पर भी उनका कवि-क्षेत्र में तनिक भी महत्त्व कम नहीं हुआ। प्रत्युत् उनके काव्य के अवलंबन से परिचित हो जाने पर पाठक उनके हृदय के साथ सहज ही तादात्म्य स्थापित कर लेता है और रस-विभोर बन जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद ने अपने भौतिक आलंबन के प्रति निवेदन की इतनी सघनता समर्पित की है कि वह अलौकिक हो गया है। परन्तु भावों की यह एकान्त सघनता अन्त तक क्रमशः विकास को नहीं प्राप्त हो सकी। कवि, जान पड़ता है, भीतर अपनी ही प्रतिमा को अश्रु-दान देते-देते थक-सा गया है अतः वह बाहर झाँकने लगा। अथवा ऐसा ज्ञात होता है कि 'आँसू' को मुक्तक काव्य तक सीमित न रखकर प्रबन्ध तक खींच ले जाना भी उसे अभीष्ट था। इसीलिए अनेक पंक्तियां में भावों की पुनरावृत्ति पाई जाती है। आत्मगत काव्य की सीमा लाँघ कर आँसू में युगीन-वेदना का भी चित्रण इसीलिये है। कवि को समाज और देश के आँसू भी दीख पड़े हैं। इस तरह उसने 'आँसू' को अपनी अभाव-जनित वेदना का निवेदन मात्र न रख कर अपने को पलायनवादी कहलाने से बचा लिया है। यह स्पष्ट है कि 'आँसू' का मुख्य-भाव विरह-शृंगार है जो करुणा के सिंचन से निखर गया है और लोक-कल्याण की शांत कल्पना से पूत हो उठा है।

'आँसू' पढ़ते समय कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है, कि कवि स्वयं अनुभव नहीं कर रहा है, उसकी बुद्धि अनुभवशील बन रही है और ऐसी स्थिति वहीं आई है, जहाँ कवि अपनी मीड़ को भूल गया है। ऐसे स्थलों पर आंग्ल समीक्षक रिचार्ड्स के ये वाक्य स्मरण हो आते हैं जिन्हें उसने टी० एस० ईलियट के सम्बन्ध में कहे थे—"इसकी कविता भावनाओं का संगीत है।" 'आँसू' में लाक्षणिकता के आधिक्य से कभी-कभी अर्थ तक सहजगत नहीं हो पाता पर ऐसे स्थल कम है। अर्थ में उलझन पैदा होने का कारण एक यह भी है कि कवि लिंग-विपर्यय का उदाहरण भी प्रस्तुत कर देता है। उदाहरणार्थ—

"शशि-मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में, तुम कौतूहल से आये।"

चित्र 'शशिमुखी' का है पर सम्बोधन पुरुष-वाचक है। हिन्दी का पाठक इस प्रकार के सम्बोधनों से अपरिचित है। इसलिए वह इनमें आत्मा-परमात्मा खोजने लगता है और कवि के भाव-सौन्दर्य को नहीं ग्रहण कर पाता। व्याकरण के बँधे हुए नियम-पथ पर प्रसाद की भाषा ने चलना नहीं सीखा फिर भी उसकी कोमलता और मादकता प्रसिद्ध है।

हाँ, तो हम आँसू के आलंबन की चर्चा कर रहे थे। शशि मुख पर घूँघट डालकर कौन कुतूहल से आये? 'संगम' के 'प्रसाद-अंक' (फर्वरी १९५१) में श्री राजेंद्रनारायण सिंह लिखते हैं—"आँसूकार के जीवनकाल में ही—(क्योंकि उनसे बड़ा प्रमाण पुरुष अपनी रचनाओं की चेतना का अन्य कौन हो सकता है—) पूछा गया कि आप इस रहस्य-संपुट घूँघट और अंचलवाले अपने 'प्रियतम' का नाम बताइये। बोले—'आँसू प्रेम के देवता की अर्चना है। प्रेम अपने माया-विग्रह से अनंत रमणीय रूप धरता है। उसे न स्त्री कहा जा सकता है, न पुरुष, न कोमल कहा जा सकता है न परुष"। और आँसू की एक प्रति पर यह लिख दिया जो अब भी उन्हीं की हस्तलिपि में उस संग्रह और अभिनंदन के योग्य 'प्रति' पर अंकित है :—

ओ मेरे प्रेम बतादे—!
तू स्त्री है या कि पुरुष है

दोनों ही पूछ रहे हैं
कोमल है या कि परुष है ?"

इन पंक्तियों की मीमांसा व्यर्थ है । आँसू के लक्ष्य, आराध्य-देव कौन हैं, सहृदयों के लिए अब यह रहस्य खोज का विषय नहीं रह जाता है ।" इस पर लेखक का संकेत कि 'आँसू' का आराध्य-देवता प्रेम-भाव है, पूर्ण सत्य को प्रकट नहीं करता । उसने अपने विश्वास का निम्न पंक्ति से समर्थन किया है—"मेरे प्रेम ! विहँसते जागो मेरे मधुबन में ।" परंतु 'प्रेम !' संबोधन से ही 'आँसू' का आलंबन भावात्मक (Abstract) नहीं माना जा सकता । साकार व्यक्ति भी भावातिरेक में 'मेरे प्रेम !' से संबोधित किया जा सकता है । प्रेम की साकार प्रतिमा के रूप-वैभव की झाँकी हमें कवि दिखा चुका है । फिर भी 'आँसू' के आलंबन के रहस्य की खोज शेष ही है । हिंदी-संसार निश्चित रूप से यह नहीं जान पाया कि किस स्थूल रूप ने कवि के हृदय को झकझोर कर विवश बना डाला था, जिससे कवि एकान्त भाव से उसमें उस अलौकिक छवि को देखने लगे थे जो इस लोक की होकर भी लोकातीत थी । कुछ वर्ष पूर्व कवि के अभिन्न हृदय मित्र श्रीविनोदशंकर व्यास ने इस प्रश्न के रहस्यमय आवरण को हटाने का यत्न किया था, परंतु जिस उद्देश्य से उनका वह लेख 'देशदूत' में छपा था उसमें शुद्ध साहित्य-शोध की अपेक्षा व्यक्ति-निंदा का भाव अधिक झलकता था । श्रीव्यास ने कवि की किसी वेश्या प्रेमिका का उल्लेख किया था । इस लेख का खंडन प्रसाद के दूसरे घनिष्ट मित्र श्री विश्वंभरनाथ जिज्जा ने किया था । उन्हें व्यास के आरोप काल्पनिक जान पड़े । यद्यपि आज हम 'प्रसाद' के, "मेरे प्रेम !" की स्थूल प्रतिमा से अपरिचित हैं, फिर भी हो सकता है भविष्य में किसी शोध के विद्यार्थी को उसका भी पता लग जाय ।

यदि यह मान भी लिया जाय कि 'प्रसाद' के 'आँसू' का आलंबन स्थूल सौंदर्य है तो क्या इससे हमें कवि की निम्न भूमिका का भान हो सकता है ? कवि ने अपने प्रेम-देवता के सौंदर्य को इतना ऊँचा उठा दिया है कि वह सर्वथा 'Ascetic' (अस्पृश्य) हो गया है । रवि बाबू के इसी प्रकार के सौंदर्य-विधान पर श्रीप्रवासजीवन चौधरी ने 'विश्वभारती' (फर्वरी—अप्रेल १९५०)

में लिखा है—"Ascetic beauty does not mean an abstract and, so, nugatory, principle, but a concrete spiritual one which operates not by annihilating feelings and sensations but by controlling and organising them. This demands a greater detachment from them than does extirpation of them, employment of the senses as a means to spirituality implies a deeper and bolder self-discipline than total rejection of them. But modern aesthetic makes a fetish of them and confuses beauty with the pleasable. (विरक्तिमय पवित्र सौंदर्य का भावात्मक होना आवश्यक नहीं है —वह निष्फल नहीं है। वह ठोस-स्थूल आध्यात्मिक है जो मानसिक विकारों-भावनाओं का अंत नहीं कर देता प्रत्युत उन्हें नियंत्रित कर संगठित करता है। यह कार्य आध्यात्मिक तटस्थता चाहता है। इंद्रियों द्वारा स्थूल का आध्यात्मीकरण अधिक गहन आत्मनिग्रह की अपेक्षा रखता है। इसमें इंद्रिय-भोग का अंश ही नहीं रहता। पर आधुनिक सौंदर्यवेत्ता सौंदर्य और भोग को एक ही मानकर बड़ी गड़बड़ी पैदा कर देते हैं।)

बात यह है, कवि के भौतिक जीवन की बारीकियों की खोज-दृष्टि हमें विदेशियों से प्राप्त हुई है। प्राचीन युग में कवि अपने सत्य को-अनुभवों को व्यक्त करना ही अपना धर्म समझता था। अपने संबंध में कुछ कहने की उसे कभी आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई और न उसके पाठकों ने ही उसके ऐहिक-जीवन की जानकारी में अपने को परेशान करने की चिंता की। यही कारण है कि हमारे प्राचीन-युग के अमर कवि अपनी लौकिक-लीला का कोई चिह्न नहीं छोड़ गये हैं। छोड़ गये हैं केवल अपनी कृतियाँ जिनके आस्वाद से जन-जन का मन युग-युग तक आनंद के अतिरेक में डूबता-उतराता रहता है।

---

६. आधुनिक काव्य की उत्कृष्ट कृति—कामायनी

कामायनी प्रसाद की अन्तिम कृति है और छायावाद का प्रथम महाकाव्य। महाकाव्य मानव की व्यापक अनुभूति का प्रतीक होता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह विश्वनाथ के साहित्य दर्पण या अरस्तू के 'पोएटिक्स' की बँधी-बँधाई व्याख्या की सीमा में बँध कर अपने को प्रकाशित करे। कथा किसी भी युग की हो, यदि उसमें मानव की शाश्वत भावनाओं, उनकी उलझनों आदि का सबल उद्घोष है तो उससे महाकाव्य की सृष्टि हो जाती है। 'कामायनी' में मानव की श्रद्धा और बुद्धि के बीच जो अहर्निश संघर्ष होता रहता है उसका चित्रण ऐतिहासिक और पौराणिक सामग्री से गृहीत कथा द्वारा किया गया है। ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद्, भागवत आदि में मनु का विभिन्न रूपों में उल्लेख मिलता है। यही मनु कामायनी के नायक हैं और मानव के प्रतीक। मनु सम्बन्धी जो कथा मिलती है वह इस प्रकार है :

"जलप्लावन का वर्णन शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड से, प्रारम्भ होता है; जिसमें मनु की नाव के उत्तर गिरि हिमवान प्रदेश में पहुँचने का प्रसंग है। वहाँ ओघ के जल का अवतरण होने पर मनु जिस स्थान पर उतरे उसे मनोरवसर्पण कहते हैं। श्रद्धा के साथ मनु का मिलन होने के बाद उसी निर्जन प्रदेश में उजड़ी हुई सृष्टि को फिर से आरम्भ करने का प्रयत्न हुआ। ऋग्वेद में श्रद्धा और मनु दोनों का नाम ऋषियों की तरह मिलता है। 'श्रद्धा' कामगोत्रजा—काम गोत्र की बालिका—कही गई है। असुर पुरोहित के मिल जाने से मनु ने पशुबलि की। इस यज्ञ के बाद मनु में जो पूर्व परिचित देव प्रवृत्ति जाग उठी, उसने इड़ा के सम्पर्क में आने पर उन्हें श्रद्धा के अतिरिक्त एक दूसरी ओर प्रेरित किया। ऋग्वेद में इड़ा को बुद्धि का साधन करने वाली—मनुष्य को चेतना प्रदान करनेवाली स्त्री, कहा है। इड़ा के प्रति मनु का अत्यधिक आकर्षण हुआ; श्रद्धा से वे खिंच गए। बुद्धि का विकास, राज्य की स्थापना इत्यादि इड़ा

के प्रभाव से ही मनु ने किया। फिर तो इड़ा पर भी अधिकार करने की चेष्टा के कारण मनु को देवों का कोप-भाजन बनना पड़ा। इस अपराध के कारण उन्हें दंड भोगना पड़ा।"

यद्यपि कवि कहते हैं, कि उन्होंने कथा-शृंखला को मिलाने के लिए कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत कल्पना का भी सहारा लिया है, फिर भी हम देखते हैं कि कथावस्तु की ग्रन्थि शिथिल रह ही गई है।

प्रेमचन्द्र के उपन्यासों की तरह 'कामायनी' में एक ही पद्य नहीं, कहीं-कहीं पृष्ठ भी ओझल किये जा सकते हैं। पूरा लज्जा सर्ग यदि सर्वथा लुप्त भी हो जाय तब भी उसके प्रबंधत्व में बाधा नहीं उपस्थित होती। कथा की समाप्ति में भी त्वरा दीख पड़ती है। मनु कुमार ने इड़ा का विश्वास सम्पादन कर सारस्वत देश का शासन किस क्रम से किया? विद्रोह का शमन कैसे हुआ? आदि प्रश्न जिज्ञासा ही बने रहते हैं। कुमार भी इड़ा के साथ कैलाश की ओर प्रधावित दीख पड़ते हैं, मानों वे भी मनु के समान संसार से त्राण पाने को व्याकुल हो उठे हों। सच बात यह है कि कथा की क्रमबद्धता पर प्रसाद ने विशेष ध्यान नहीं दिया।

'कामायनी' में मनु, श्रद्धा और इड़ा का सांकेतिक अर्थ भी कवि को अभीष्ट है। मनु मन का, श्रद्धा उसके एक पक्ष हृदय और इड़ा उसके दूसरे पक्ष मस्तिष्क (बुद्धि) का प्रतीक है। मन श्रद्धा की ओर जब झुक जाता है तब वह तर्कशून्य हो जाता है, मन जब बुद्धि को ही सब कुछ समझने लगता है तब वह यन्त्र बन जाता है। उसका तोल तभी ठीक रहता है जब वह बुद्धि अर्थात् 'इड़ा' और श्रद्धा अर्थात् 'हृदय' दोनों का समन्वय करता है। यद्यपि कहा यह जाता है कि प्रसाद ने 'कामायनी' में मन को इन दोनों प्रवृत्तियों में सामञ्जस्य स्थापित किया है पर सच बात तो यह है 'प्रसाद' ने एक आस्तिक की भाँति श्रद्धा की ही बुद्धि पर विजय प्रस्थापित की है। उनका विश्वास है—मनुष्य बुद्धि का परित्याग कर सकता है, श्रद्धा का अर्थात् हृदय का नहीं। श्रद्धा को—हृदय—को भूलकर मनुष्य आत्मिक शांति लाभ नहीं कर सकता। सच्ची

मानवता हृदयता के विकास में दूसरे शब्दों में 'श्रद्धा' के जागृत रहने में है। उसीसे मानवता अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त होती है और समस्त विश्व में आनन्द-रस की वर्षा करती है। बुद्धि का उपयोग जीवन के भौतिक संघर्ष में ही होता है, तर्क-वितर्क से आत्मा की शान्ति भंग होती है। इसीसे मनु की वाणी में कवि बोलता है—

यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल;
सब पाप-पुण्य जिसमें जल जल,
पावन बन जाते हैं, निर्मल;
मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखंड आनन्द वेश।

यह बुद्धिवादी युग है। जहाँ समता कम और विषमताओं का ही आधिक्य है। मानव की कोमल वृत्तियाँ बुरी तरह झकझोरी जा रही हैं बुद्धि के विलास पर मनुष्य अपना भौतिक अस्तित्व दृढ़ करना चाहता है। विश्व शान्ति के नाम पर बुद्धि अशान्ति के साधन उपस्थित करती जा रही है। जन-जन के हृदय से विश्वास तिरोहित होता जा रहा है। इसीलिये मानव परस्पर एक दूसरे से विभक्त हो रहा है। यह विभाजन-प्रक्रिया बुद्धि से अत्यधिक आश्रित होने के कारण मनुष्य में दिखाई देती है। यदि श्रद्धा या विश्वास का भाव मानव जाति में संचरित हो जावे तो विध्वंसक साधनों के आविष्कार के बिना भी विश्व-शांति स्थापित हो सकती है। प्रसाद ने बुद्धि पर श्रद्धा की विजय दिखला कर मानव-विषमता के संघर्ष का शाश्वत हल सुझा दिया है। हम देखते हैं कि, 'कामायनी' में मनु को अन्त में श्रद्धा ही उस आनन्द-लोक तक ले जाती है जहाँ पहुँच कर कोई कामना की ऐसी लहर उन्हें स्पर्श नहीं कर पाती जो विचलित कर दे। उनका मन उस मधुमती भूमिका में पहुँच जाता है जहाँ ममत्व का केन्द्र विशेष उसे खींच नहीं सकता। सर्वत्र एक ही भाव, एक ही रस वह अनुभव करने लगता है। सभी वस्तुएँ उसमें आनन्द का संचार करती

हैं। अमृतरस की वर्षा से वह निशि दिन भींगता रहता है। 'कामायनी' की श्रद्धा का यदि हम विश्लेषण करें तो आज की अनेक गुत्थियाँ—अनेक समस्याएँ—हल हो सकती हैं।

मनु जहाँ 'इड़ा' की ओर आकर्षित होता है वहाँ कवि को सम्भवतः यह संकेत अभीष्ट था कि मनुष्य का जीवन बुद्धि के नितान्त अभाव में अपूर्ण रहता है। अतएव जहाँ तक भौतिक महत्वाकांक्षाओं के सम्पादन का प्रश्न है, बुद्धि का सहयोग आवश्यक है पर जीवन में महत्वाकांक्षा की भी सीमा है। उसका अतिरेक होने पर मनुष्य अमानव बन जाता है।

कामायनी में पुरुष और नारी के संबंध का सुन्दर उद्घाटन है। कवि ने पुरुष को अत्यधिक स्वार्थी, ईर्ष्यापूर्ण, चंचल और वासना के क्रीतदास के रूप में चित्रित किया है। कामायनी के मनु में प्रेम है, पर उसमें निर्मलता नहीं, ऊषा सी पवित्र लालिमा नहीं। वह सीमित है अपनी ही मनोवृत्ति के उलझन भरे कांटों में। वह यह सिद्ध करता है कि पुरुष सौंदर्य पर रीझता है, गुणों की ओर आकर्षित भी होता है पर अपने अस्तित्व को तभी मिटाना चाहता है जब प्रतिदान, एकान्त समर्पण-भावना, उसे प्राप्त होती है। 'श्रद्धा' में भारतीय नारी के उत्सर्ग का अत्यन्त मोहक रूप झलक रहा है। वह यह सिद्ध करती है कि नारी प्रेम करने के बाद तर्क-वितर्क नहीं करती, अपना सम्पूर्ण अस्तित्व मिटा देती है। वह ठीक कहती है......

मैं दुःख को सुख कर लेती हूँ

....

अनुराग भरी हूँ, मधुर घोल !

मनु अपने आचरण से पुरुष का वह रूप प्रस्तुत करता है जो अपनी प्रेमिका की आँखों में अपना ही चित्र, मन में अपना ही ध्यान और हृदय में अपना ही स्पन्दन चाहता है। वह कहता है......

"काली आँखों की तारा मे, मैं देखूँ अपना चित्र धन्य
मेरा मानस का मुकुर रहे, प्रतिबिंबित तुमसे ही अनय
केवल मेरी ही चिन्ता का, तब चित्त वहन कर रहे भार।"

'प्रसाद' का 'पुरुष' अपने 'प्रिय' के प्रेम को इतना अधिक सीमित कर देना चाहता है कि उसकी छाया का उसके 'पुत्र' की ओर झुकना भी उसमें द्विविधा' का विष घोल देता है।

श्रद्धा जब अपने भावी पुत्र के बाल-विनोद की कल्पना कर उमग उठती है—

"मेरी आँखों का पानी, तब बन जायेगा अमृत स्निग्ध
इन निर्विकार नयनों में जब, देखूँगी अपना चित्र मुग्ध"।

तब मनु की ईर्ष्या अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। वह कहता है......

"यह जलन नहीं सह सकता मैं,
चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
इस पंचभूत की रचना में,
मैं रमण करूँगा बन एक सत्व।
यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो,
है प्रेम बाँटने का प्रकार।
भिक्षुक मैं ना यह कभी नहीं,
मैं लौटा लूँगा निज विचार।"

'प्रसाद' ने पुरुष की ईर्ष्या का जो स्वरूप उक्त पंक्तियों में खींचा है उसे 'सामान्य' कहने को जी नहीं चाहता। पुरुष को प्रेम का वितरीकरण सह्य नहीं; माना, पर प्रेम के जिस स्वरूप को श्रद्धा बाँटना चाहती थी, वह तो मनु की आसक्ति का न था, वह अपनी आँखों की पुतली में मनु के पुत्र का चित्र जिसे मनु की छाया ही कहा जा सकता है, उतारना चाहती थी। श्रद्धा की आँखें यदि किसी ऐसे व्यक्ति पर जमतीं जिसमें 'स्खलित' यौवन भावना के मधु 'बुन्दों' का प्रमाद होता, तो मनु की ईर्ष्या यदि साक्षात् अग्नि बनकर भी श्रद्धा को भस्म कर डालती, तो हमें उसमें लेशमात्र भी अस्वाभाविकता न दीख पड़ती, उसमें हम पुरुष की एकान्त भावना के अतिरेक का आघात

कारणीभूत देख सकते थे। पर श्रद्धा के 'वात्सल्य' के प्रति मनु की ईर्ष्या का पतित प्रदर्शन अप्रासादिक प्रतीत होता है। 'प्रेम गली अति साँकरी तामें दो न समायँ", उसी दशा में ईर्ष्या का कारण बन सकती है जब उसमें समान भाव के दो व्यक्ति प्रविष्ट होना चाहते हों। इतना ही नहीं, 'प्रसाद' का पुरुष तो अपनी प्रेयसी का ध्यान पशु की ओर खिंचते देखकर भी ईर्ष्या से सुलगने लगता है। नायक की इतनी संकुचित वृत्ति अशोभन दीख पड़ती है।

परन्तु 'नारी' का अत्यंत मोहक और कल्याणकारी स्वरूप कामायनी में प्रस्तुत हुआ है।

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।"

कामायनी में मन की अनेक वृत्तियों का रूपात्मक चित्रण है। चिन्ता, आशा लज्जा, के वर्णन हिन्दी काव्य में अद्वितीय हैं।

नारी के अंगों के वर्णन तो प्रायः सभी कवियों ने सरसता के साथ किये हैं परन्तु पुरुष का पौरुषपूर्ण वर्णन प्रसाद के मनु में अधिक सुन्दरता से खिल उठा है। प्रकृति के खंड और अखण्ड चित्र कामायनी में यत्र-तत्र अपनी भव्य और सुकुमार प्रतिमाओं के साथ खड़े हुए हैं।

उसमें प्रकृति मुसकुराकर हर्ष पुलक भी भरती है, तीखी भ्रूभंगियों से सहम का विकम्पन भी। पर, उसके दोनों रूपों में वैशिष्ट्य है, आस्वाद हैं।

'ऊषा' सुनहले तीर 'बरसाती है।' रात 'विश्व-कमल की' मृदुल मधुकरी "है जो संसार में मधुर रस की वर्षा करती है। वह समीर के मिस हाँफती 'किसी' के पास चली जा रही है...घबराई-सी सहमी-सी मानों 'रात रानी' के 'प्रथम अभिसार' की कल्पना कितनी मधुर है!...उसकी 'उज्जवलता' पर कवि की कल्पना हुलस उठती है।

"विकल खिलखिलाती है क्यों तू?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर

तुहिन कणों, फेनिल लहरों में
मच जावेगी फिर अंधेर।"

चाँदनी रात कितनी मादकता भर देती है, इसकी ओर कवि का इंगित है। जब रात में यत्र-तत्र मेघ आकाश में दौड़ते हैं तो चाँद झाँकता एवं छुपता-सा दीख पड़ता है, मानों रात घूँघट में अपना सुन्दर मुखड़ा ढाँप लेती है। कवि कहते हैं—

"घूंघट उठा देख मुसक्याती
किसे ठिठकती सी आती
विजन गगन में किसी भूल सी
किसको स्मृति-पथ में लाती।"

चाँद 'रजत कुसुम' सा है और उसकी 'चाँदनी' पराग-सी। चारों ओर उसका छिटकना 'धूल' सा उड़ता प्रतीत होता है। ज्योत्स्ना का यह रूप इतना मादक है कि स्वयं रात भूली सी लगती है। 'रात' का यह मानवीकरण कितना सजीव होकर खिल उठा है। चाँदनी की 'रजत कुसुम (चाँद)' के 'नवपराग' से उपमा सम्भवतः हिन्दी में प्रथम बार ही दी गई है।

'प्रसाद' जड़ को चेतन और मानव के रूप में देखने के अभ्यासी हैं। यही तादात्म्य-स्थापन की विह्वलता उनकी रहस्यमयी प्रवृत्ति की द्योतक है। 'रहस्यवादी' भी क्या चाहता है? वह जड़ और चैतन्य की 'दुविधा' ही मिटा देना चाहता है।

कामायनी में मानव जीवन का सनातन सत्य अभिव्यक्त हुआ है। आध्यात्मिक साधना मनुष्य की वासनाओं की तृप्ति के पश्चात् ही सम्भव होती है—सफल होती है।

प्रारम्भ ही में संसार से एकदम आँख मूँदकर भीतर का रहस्य नहीं दिखाई पड़ता। 'बाहर' आँख खोलकर देख चुकने पर ही अन्तर के पट खुलते हैं और शिव के दर्शन होते हैं। 'प्रसाद' ने अपने साहित्य में यत्र-तत्र 'समरसता' का उल्लेख किया है। वह शैवदर्शन का शब्द है।

पीड़ा, संघर्ष और—मृत्यु में ही नवजीवन छिपा हुआ है, शांति मुसकुरा रही है। यह महान शिव तथ्य 'कामायनी' में हमें मिलता है। हिन्दी के एक समीक्षक पं० इलाचंद जोशी के शब्दों में 'कामायनी' की रचना मानवात्मा की उस चिरन्तन पुकार को लेकर हुई है जो आदि काल से चिर अमर आनन्द और चिर अमर शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा से व्याकुल है। इस घोर अहम्मन्यता पूर्ण दुर्लभ आकांक्षा की चरितार्थता के प्रयत्न में मानव को जिन संकटसंकुल गिरि पथों, जिन जटिल जाल जड़ित गहन अरण्य प्रान्तरों तथा घोर अंधकाराच्छन्न कराल रात्रियों का सामना करना पड़ता है, उनके संघात की वेदना 'कामायनी' में बिजली के शब्द से कड़कती हुई बोल उठी है।" तभी तो हम इसे युग-युग की रचना कहते हैं।

---

७. महादेवी की कविता

छायावाद-युग ने महादेवी को जन्म दिया और महादेवी ने छायावाद को जीवन। प्रगतिवाद के नारे से प्रभावित हो जब छायावाद के मान्य कवियों ने अपनी आँखें पोंछ कर भीतर से बाहर झाँकना प्रारम्भ कर दिया और अनन्त की ओर से दृष्टि फेर कर उसे मार्क्स पर केन्द्रित कर दिया तब भी महादेवी की आँखें भीगती रहीं, हृदय सिहरन भरता रहा, ओठों की ओट में आहें सोती रहीं और मन किसी 'निष्ठुर' को आरती उतारता रहा। दूसरे शब्दों में वे अखण्ड भाव से अन्तर्मुखी बनी रहीं।

छायावाद के उन्नायक पंत ने 'रूपाभ' की प्रथम संख्या में उसका विरोध करते हुए लिखा था "इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पाषाण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।" भगवती चरण वर्मा ने प्रगतिवाद के युग में छाया-वाद को दीपशिखा सँजोनेवाली कवियत्री की 'विशाल भारत' में निर्दय भर्त्सना की थी, उसके भावैक्य और पलायन-प्रवृत्ति को प्रतिगामिनी कहा था। फिर भी महादेवी ने छायावाद की वकालत नहीं छोड़ी—"मनुष्य की वासना को बिना स्पर्श किये हुए जीवन और प्रकृति में सौंदर्य को समस्त सजीव वैभव के साथ चित्रित करनेवाली उस युग (छायावाद) की अनेक कृतियाँ किसी भी साहित्य को सम्मानित कर सकती हैं। ...उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिये क्योंकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौंदर्यसत्ता की प्रतिक्रिया थी। अप्रत्यक्ष स्थूल के प्रति उपेक्षित यथार्थ को नहीं जो आज की वस्तु है।"[1] कल्पना पराङ्मुखियों से भी उन्होंने कहा—"जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं

---

[1] आधुनिक कवि—भूमिका

अस्तित्व ही नहीं रखता। अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की भावना कर सकता है वही उसका स्थूल और सूक्ष्म है! और यदि इनका ठीक संतुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा।"[1] जिस भीतर-बाहर के संतुलन की यह बात महादेवी ने सन् १६४० ई० में कही थी, उसी को दस वर्ष बाद पंत ने प्रगतिवाद से मुख मोड़कर 'उत्तरा' में उद्घोषित किया है।[2] पंत के बाहर से भीतर लौटने की भविष्यवाणी भी महादेवी ने की थी,—"हमें निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पंदनहीन वस्तुवाद के लम्बे पथ को पार कर कदाचित् फिर चिर संवेदन रूप सक्रिय भावना में जीवन के परमाणु खोजने होंगे, ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है।"[3] आज तो पंत ही नहीं, निराला, अज्ञेय, राहुल आदि अनेक प्रगतिवाद के क्षेत्र से विमुख हो चुके हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है—"छायावादी कहे जानेवाले कवियों में महादेवी जी ही रहस्यवाद के भीतर रही हैं······अज्ञात प्रियतम के लिए वेदना ही इनके हृदय का भाव-केन्द्र है जिससे अनेक प्रकार की भावनाएँ छूट-छूट कर झलक मारती रहती हैं।"

प्रश्न यह है कि महादेवी की भावनाओं की 'झलकें' क्या रहस्यवाद की सीमा के अन्दर परिगणित की जा सकती हैं? और क्या महादेवी का रहस्यवाद कबीर, जायसी, मीरां की परम्परा है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व संक्षेप में रहस्यवाद और छायावाद की सीमा समझ लेनी होगी। आ० शुक्ल इन दो शब्दों को इस प्रकार समझाते हैं—"छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए, एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रिय को आलंबन

---

[1] आधुनिक कवि-भूमिका

[2] "मैं बाहर के साथ भीतर की क्रांति का भी पक्षपाती हूँ"······(उत्तरा पृ० सं० २६)

[3] आधुनिक कवि

बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है... छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है। छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ, प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन। इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास) 'काव्य में रहस्यवाद' में वे पुनः छायावाद का अर्थ स्पष्ट करना चाहते हैं—"जो छायावाद प्रचलित है वह वेदान्त के पुराने प्रतिबिम्बवाद का रूप है। यह प्रतिबिम्बवाद सूफ़ियों के यहाँ से होता हुआ योरप में गया जहाँ कुछ दिनों पीछे प्रतीकवाद से संश्लिष्ट होकर धीरे-धीरे बंग साहित्य के एक कोने में आ निकला और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिए छायावाद कहा जाने लगा। यह काव्यगत रहस्यवाद के लिए गृहीत दार्शनिक सिद्धान्त का द्योतक शब्द है।" (पृ० १४२-४३)

आचार्य छायावाद को रहस्यवाद का पर्याय मानते हैं और शैली विशेष भी। इससे विवेचना के क्षेत्र में यदि हम उन्हींका शब्द प्रयुक्त करें तो 'गड़बड़झाला' हो जाने की संभावना हो गई है। विषय सुलझने की अपेक्षा अधिक उलझ गया है। महादेवी ने 'यामा' की भूमिका में इन 'वादों' की चर्चा करते हुए कहा है कि—"प्रकृति के लघु तृण और महान वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अंधकार और उज्ज्वल विद्युत-रेखा मानव की लघु विशालता, कोमल कठोरता, चंचलता, निश्चलता और मोहज्ञान का प्रतिबिम्ब न होकर, एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर हैं। जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतना और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं बन पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता।

इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुर व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना, इस काव्य (छायावाद) का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया है।"

महादेवी ने भी छायावाद और रहस्यवाद को एक दूसरे का पर्याय मान लिया है। परन्तु छायावाद-युग की रचनाओं का विश्लेषण कर लेने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ये दो शब्द भिन्न अर्थों के द्योतक हैं। छायावाद के काव्य में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति प्रधान है। उसके लिए परोक्ष सत्ता के प्रकाशन की अनिवार्यता नहीं है। उसमें व्यक्ति की कोई भी अभाव-जनित अन्तर्व्यथा झलक मार सकती है, बाह्य प्रकृति के प्रति आसक्ति भी सरस हो सकती है। मानव या प्रकृति के अन्तर्बाह्य सौंदर्य के प्रति रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के आयास की लक्षणात्मक अभिव्यंजना छायावाद की सीमा है और हृदय की व्यक्त जगत् के प्रति जिज्ञासा और उसमें अन्तर्हित सूक्ष्म सत्य का आतुरतामय अन्वेषण रहस्यवाद की निकटता है। व्यक्त जगत् में साधक की हृदय-भूमि भी सम्मिलित है। तात्पर्य यह कि सभी अन्तर्मुखी रचनाएँ लाक्षणिक अभिव्यक्ति के साथ छायावादी कहला सकती हैं! पर सभी छायावादी रचनाएँ रहस्यवादी नहीं हो सकतीं। रहस्यवादी रचनाओं में अव्यक्त सत्य या सूक्ष्म के प्रति ललक अनिवार्य है और वह अव्यक्त सत्य निर्गुण ब्रह्म का पर्याय होना चाहिए। ब्रह्म के सगुण रूप की अभिव्यक्ति में रहस्य कहाँ है? यह बात सत्य है कि निर्गुण ब्रह्म सगुण सत्ता लेकर ही काव्य में उतरता है क्योंकि भावना शून्य के आलंबन पर ठहर नहीं सकती।

जब महादेवी की रचना में समीक्षक रहस्यवाद पाते हैं तब संभवतः वे उनकी रचनाओं के शाब्दिक अर्थ तक अपने को सीमित रखते हैं। महादेवी ने रहस्यवाद की साधनात्मक अनुभूति को स्पर्श किया है, यह संदिग्ध है। यह हमारा ही संदेह नहीं है, उनको रहस्यवादी कहने वाले आचार्य शुक्ल को भी कहना पड़ा है "वेदना को लेकर जो अनुभूतियाँ उन्होंने रखी हैं वे कहाँ तक वास्तविक हैं और कहाँ तक अनुभूतियों की रमणीय कल्पना, यह नहीं कहा जा सकता।" 'दीपशिखा' की भूमिका में स्वयं महादेवी ने स्वीकार किया है—"यह

आत्मानुभूत ज्ञान आत्मा के संस्कार और व्यक्तिगत साधनापर इतना निर्भर है कि इसकी पूर्ण प्राप्ति और सफल अभिव्यक्ति सबके लिए सहज नहीं है।" ज्ञान से जो दार्शनिक सत्य उपलब्ध हो सकता है वह हृदय के माध्यम से ही अनुभव किया जाता है, तभी रहस्यवाद की सृष्टि होती है। इसमें संदेह नहीं, महादेवी में निर्गुण संतों की वाणी का स्वर ध्वनित होता है पर ध्वनि में उनकी जीवन-साधना की अनुभूति का कितना अंश है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। कबीर कहते हैं—

'सुनु सखि पिऊ महिं जीऊ बसे,
जिऊ महिं बसे कि पीऊ।"

यह आत्मा-परमात्मा का ऐक्य महादेवी के जीवन में साध्य हो सका है, यह हम नहीं जानते। निर्गुणी सन्त अपने में सृष्टि और सृष्टि में अपने को कल्पना से नहीं, हृदय की ज्योति जगाकर देखते थे।

संतों के हृदय में उस सूक्ष्म की सघन संवेदना हुई थी। हक्सले ने बाह्य मन और बुद्धि के परे एक और शक्ति का अस्तित्व माना है, जिसे वह 'थर्ड थिंग' कहता है। इसी तीसरी वस्तु या शक्ति के द्वारा निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार संभव होता है! प्राचीन द्रष्टा ऋषि इस वृत्ति के अस्तित्व की बराबर घोषणा करते आये हैं जिसे वे साक्षात् ज्ञान, अनुभव-ज्ञान या अपरोक्ष अनुभूति के नाम से पुकारते हैं। बुद्धि के क्षेत्र को नीचे छोड़ कर निर्गुणी संतों ने अनुभूति के इसी राज्य में प्रविष्ट होने का दावा किया है। यहीं उन्हें परम सत्ता का साक्षात्कार हुआ है। यह बात सत्य है कि अपनी अलौकिक अनुभूतियों को समझाने के लिए उन्हें स्थूल उपकरणों और लौकिक भाषा का आश्रय लेना पड़ा है।

संतों की वाणी में जो अनुभूत सत्य बार-बार प्रतिध्वनित हुआ है, वह सार रूप में इस प्रकार है—परमात्मा और आत्मा की पृथक् सत्ता नहीं है, परमात्मा आत्मा में ही समाया हुआ है। अतएव उसकी खोज बहिर्वृत्ति से नहीं, अन्तर्वृत्ति से संभव है।

महादेवी के काव्य में हम परोक्ष सत्ता की साक्षात् अनुभूति में विश्वास

करने में इसलिये झिझकते हैं कि उनमें मध्ययुगीन संतों के समान सघन एकस्वरता—सहज एकतानता प्रायः नहीं है। उनमें कभी अद्वैत के प्रति ललक झलकती है, कभी द्वैत के प्रति कामना उमड़ती है और कभी स्थूल के प्रति राग सजग हो उठता है।[१] उनमें प्रेमतत्त्व का प्राधान्य होने से उन्हें सूफ़िनी कहने का भी साहस किया जाता है। पर सूफ़ियों की भी आध्यात्मिक श्रेणियाँ और परम्पराएँ हैं। महादेवी के काव्य में उनकी खोज करना उनमें सहज प्रकाशित प्रेमतत्त्व को भी अग्राह्य बनाना है। उनके काव्य को सूफ़ियों से प्रभावित कहना भी उनका उपहास करना है।

इसी प्रकार महादेवी को मीरां की परम्परा में बतलाना भी कलाकार महादेवी को आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "युगों पीछे फेंक देना है।" मीरां की भक्ति साधनामूलक थी, महादेवी की काव्यसाधना कलामूलक है। उनका तथाकथित 'सूक्ष्म प्रिय' क्या मीरां के 'जोगी' का पर्याय हो सकता है?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महादेवी की रचनाएँ निर्गुणी संतों की एक लक्ष्योन्मुख सघन अनुभूति और उनके साधन-मार्ग परम्परा की नहीं हैं। उनके काव्य में व्यक्त 'सूक्ष्म' को कल्पना की सुन्दर सृष्टि मानते हुए भी हम उनकी काव्य-प्रेरणा की सजीव यथार्थता में अविश्वास नहीं करना चाहते। उसे

---

[१] अद्वैत का स्वर १ 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।'
२ 'मधुर राग तू मैं स्वर संगम, चित्र तू मैं रेखा क्रम।'

द्वैत की भावना—'तुम सो जाओ मैं गाऊँ
मुझको सोते युग बीते
तुमको यों लोरी गाते
अब आओ मैं पलकों में
स्वप्नों से सेज बिछाऊँ।'

स्थूल के प्रति राग—'कह दे माँ क्या देखूँ?
देखूँ खिलती कलियाँ या प्यासे सूखे अधरों को
या मुरझाई पलकों से झरते आँसू-कण देखूँ।'

हम जीवन की क्रूर विषम परिस्थितियों से विचलित और विकंपित मानते हैं। जगत् के अशोभन स्थूल सत्य के साथ सामंजस्य न हो सकने के कारण उनका भावुक मन आघात खा-खा कर अन्तर्मुखी हो गया है और वहां अपनी अभिरुचि की स्वप्निल प्रतिमा के साथ क्रीड़ा करने लगा है। कभी उसके साथ मिलन-सुख अनुभव करता है, कभी स्त्रियोचित मान, अभिसार, शृंगार आदि का अभिनय करता है। परन्तु ज्योंही उसमें यह भान जागृत होता है कि स्वप्निल प्रतिमा से स्थूल मिलन असंभव है, वह विरह की वास्तविक स्थिति में आकर विकल हो जाता है। कवियत्री के काव्य की प्रेरणा 'दीप-शिखा' की इन दो पंक्तियों में मुखरित हो उठी है—

"मैं कण-कण में डाल रही अलि !
आँसू के मिस प्यार किसी का,
मैं पलकों में पाल रही हूँ,
यह सपना सुकुमार किसी का ॥"

सारी कविताओं का प्रेरणा-सूत्र इनमें है। इसी बात को एक स्त्री आलोचिका श्रीमती शचीरानी ने बहुत स्पष्ट शब्दों में यों व्यक्त किया है—"यौवन के तूफानी क्षणों में जब उनका अल्हड़ हृदय किसी प्रणयी के स्वागत को मचल रहा था और जीवन गगन के रक्ताभ पटल पर स्नेह-ज्योत्सना छिटकी पड़ रही थी, तभी अकस्मात विफल प्रेम की धूप खिलखिला पड़ी और पुलकते प्राणों की धूमिलता में अस्पष्ट रेखाएँ-सी अंकित कर गई। आत्म-संयम का व्रत लेकर उन्होंने जिस लौकिक प्रेम को ठुकरा कर पीड़ा को गले लगाया, वह कालांतर में आंतरिक शीतलता से स्नात होकर बहुत कुछ निखर तो गई किन्तु उनके हठीले मन का उससे कभी लगाव न छूटा और वे उसे निरंतर कलेजे से चिपकाये रखने की मानो हट पकड़ बैठीं।"

महादेवी ने कभी बहुत पहिले गाया था—"विसर्जन ही है कर्णधार; वही पहुँचा देगा उस पार।" यह तो स्पष्ट है कि महादेवी के इस विसर्जन में उल्लास नहीं, वेदना है, पर अपनी अभावजनित वेदना को छिपाने का उन्होंने

सतत प्रयत्न किया है। 'रश्मि' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"संसार साधारणतः जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है, वह मेरे पास नहीं। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर, सब कुछ मिला है, उसपर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी! कदाचित् वह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी।" पर अपने ही कथन का मानो प्रतिवाद करती हुई वह एक स्थान पर लिखती हैं—"समता के धरातल पर सुख-दुख का मुक्त आदान-प्रदान यदि मित्रता की परिभाषा मानी जाय तो मेरे पास मित्र का अभाव है।" सुख-दुख में समभागी होनेवाले मित्र का अभाव क्या जीवन का कम उत्पीड़न है? आधुनिक कवि की भूमिका में हम फिर पढ़ते हैं—"हृदय में तो निराशा के लिये कोई स्पर्श ही नहीं पाती, केवल एक गंभीर करुणा की छाया देखती हूँ।" निराशा इसलिए नहीं है कि महादेवी ने अपने अभाव से समझौता कर लिया। आशा तभी तक रहती है जब तक परिस्थिति में सुधार की संभावना होती है। एक बार इस संभावना के नष्ट हो जाने पर मन निराशा की ओर नहीं बढ़ता, पर वह आशान्वित होकर हर्ष से परिपूरित भी नहीं हो पाता। वह अपने अभाव को बिसूरता रहता है, उसपर चिंतन-मनन करता रहता है। कभी-कभी यह भी कल्पना कर वह अपने को सुखी मानने का यत्न करता है कि मैं निराश नहीं हूँ, प्रसन्न हूँ। पर यह कल्पित उल्लास का झोंका क्षणिक ही रहता है। उसके हटते ही मन अपने दुःख को नगण्य नहीं मानता। महादेवी की 'यामा' की भूमिका में यही मनोवृत्ति बोल रही है—"दुख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर उर्वर बनाये बिना नहीं रहता।" मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुःख को सबको बाँट कर। विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार जल का एक बिंदु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।

महादेवी को दुःख का वह रूप प्रिय है जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार के एक अविच्छिन्न बंधन में बाँध देता है और उसका वह रूप

भी काल और सीमा के बंधन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रंदन है। दूसरे शब्दों में व्यष्टि और समष्टि दोनों का दुःख उन्हें प्रिय है। हम महादेवी को कलाकार कवियत्री मानते हैं। यदि उनकी कविता को किसी वाद से ही बाँधना हो तो उसे दुःखवाद से अभिहित कर सकते हैं। उन्होंने स्वयं अपने जीवन को दुःख या पीड़ा से सिक्त कहा है—

"चिंता क्या है हे निर्मम
बुझ जाये दीपक मेरा
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा ॥"

गद्य की भाषा में भी वे कहती हैं—"बचपन में ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके संसार को दुःखात्मक समझने वाले दर्शन से मेरा असमय ही परिचय हो गया। अवश्य ही इस दुःखवाद को मेरे लिये नया जन्म लेना पड़ा। फिर भी उसमें नये जन्म के संस्कार विद्यमान हैं।" इसका यह आशय हुआ कि महादेवी ने बुद्ध की संसार को देखने की दृष्टि ग्रहण की है। बुद्ध भगवान ने दुःख को शाश्वत सत्य माना है। वे कहते हैं कि संसार में दुःख की सत्ता ठोस और स्थूल है। परंतु कवियत्री बौद्धों के संघात या नैराश्यवाद में विश्वास नहीं करती। अर्थात् वह आत्मा की वास्तविक सत्ता से इन्कार नहीं करतीं परंतु बौद्धों के 'सन्तानवाद' में बहुत अशंतक विश्वास करती हैं। सन्तानवाद में आत्मा और जगत को अनित्य माना जाता है। महादेवी आत्मा को नित्य मानती हैं, उसके अमरत्व में आस्था रखती हैं परंतु क्षण-क्षण परिवर्तित दिखाई देनेवाले जगत की क्षणभंगुरता को बौद्धमत के समान ही स्वीकार करती हैं। यह सत्य है कि आत्मा का अमरत्व तब तक कायम रहता है जब तक वह परमात्मा में लीन होकर मुक्ति लाभ नहीं कर लेती। वे कहती हैं —

"जब असीम से हो जायेगा
मेरी लघु सीमा का मेल

देखोगे तब देव ! अमरता
खेलेगी मिटने का खेल"

'निर्वाण' हो जाने के बाद आत्मा-परमात्मा नामक दो तत्त्व कहाँ रह जाते हैं ? संसार में पदार्थों का नहीं, उनके रूप का नाश होता है—

"स्निग्ध अपना जीवन कर क्षार
दीप करता आलोक प्रसार
जलाकर मृत पिंडों में प्राण
बीज करता असंख्य निर्माण,
सृष्टि का है यह अमिट विधान
एक मिटने में सौ वरदान।

मृत्यु को उन्होंने जीवन का चरम विकास कहा है। उनका विश्वास है कि जीवन के शाश्वत हो जाने पर वह ह्रासोन्मुख हो जाता है। अतएव विकास के लिए मृत्यु को उन्होंने आवश्यक माना है। मृत्यु से जीवन का सर्वदा लोप नहीं हो जाता। उसकी एक स्थूल शृंखलामात्र विच्छिन्न हो जाती है।

अपने दुःख की प्रतिच्छाया समस्त सृष्टि में देखने की वृत्ति हिंदी काव्य में नई नहीं है। ऊपर के विवेचन से सिद्ध है कि महादेवी का काव्य व्यक्तिगत मानसिक संघर्ष, अभाव और बुद्ध के दुःखवाद से प्रभावित है। दुःख को उन्होंने 'मधुर भाव' के रूप में स्वीकार किया है। उसमें उनको प्रेयसी की भूमिका है जो परोक्ष प्रिय के लिये अहर्निश आतुर होती रहती है। प्रिय और प्रियतम की इस कल्पित आँख-मिचौनी से उनका काव्य क्रीड़ामय हो उठा है। वे कहती हैं —

"प्रिय चिरंतन है सजन
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं।"

जब उनकी पलकें लज्जानत होना सीख ही रही थीं तभी उनमें किसी अज्ञात की प्रेम-पीड़ा हँस उठी थी—

"इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था व्रीडा का।

साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का।"

तब से आजतक उनकी पीड़ा का अन्त नहीं हुआ, उनकी विरह-निशा का अन्त नहीं हुआ। वे कहती हैं—

"अलि ! विरह के पंथ में
मैं तो न इति अथ मानती री।"

इसीलिए उनका जीवन विरह का जलजात बन गया है। जिसकी 'चितवन' ने उन्हें 'पीड़ा का राज्य' दे जीवन को झकझोर डाला है, उससे उनकी मनुहार है—

"जो तुम्हारा हो सके
लीला कमल यह आज
खिल उठे निरुपम तुम्हारी
देख स्मिति का प्रात॥"

कभी-कभी उनका भ्रांत मन यह भी कल्पना कर लेता है कि वे जिसे खोज रही हैं, वह उनके हृदय में ही है—

"गूंजता उर में न जाने
दूर के संगीत सा क्या!
आज खो निजको मुझे
खोया मिला विपरीत-सा क्या?
क्या नहा आई विरह-निशि
मिलन मधु दिन के उदय में?
कौन तुम मेरे हृदय में!"

पर उसी क्षण जैसे उन्हें अपनी वास्तविकता का भान होता है। वे पुनः अपने को अभावमय अनुभव करने लगती हैं तथा अपनी स्थिति से सन्तुष्ट होना चाहती हैं—

"एक करुण अभाव में
चिरतृप्ति का संसार निर्मित।"

उन्हें अपनी कसक में माधुर्य अनुभव होने लगा है। एक ही गीत में अनुभूति की विपरीत झलकों से जान पड़ता है कि वे लिखना कुछ चाहती हैं पर बेसुधमना होने के कारण कुछ और ही लिख जाती हैं। उनके गीतों में इस प्रकार की भाव-विषमता का यह अर्थ हो सकता है कि या तो वे एक कल्पना के पश्चात् दूसरी कल्पना की चिंतना में व्यस्त रहती हैं या उनका मन ही भूला-भूला-सा भटकता रहता है।

अपने कल्पित प्रिय की कभी वे प्रतीक्षा करती हैं ('जो तुम आ जाते एक बार') और कभी उसे अपनी दशा दिखलाकर करुणा से आर्द्र करना चाहती हैं—"यह सजल मुख देख लेते, यह करुण मुख देख लेते"। उसे सपनों में बाँधने की आकांक्षा भी रह-रहकर आकुल हो उठती है और एकांत मिलन की अभिसार—साध भी सिहर उठती है। फिर भी उनका अभिमान आँसुओं की राह से बिलकुल गल नहीं गया। अपने प्रिय में अपना अस्तित्व मिटाना उन्हें सह्य नहीं है—

"सखि! मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।"

'रत्नाकर' की गोपियों की भी यही वृत्ति है। उनका विश्वास है कि अगर ससीम असीम में मिल जायगा तो असीम का उससे तो कुछ बनेगा-बिगड़ेगा नहीं प्रत्युत 'ससीम' ही बर्बाद हो जायगा—

"जैहे बन बिगरि न वारिधिता वारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिवस बिचारी की।"

अलौकिक प्रिय के साथ प्रेम की यथासंभव समस्त क्रीड़ाओं का प्रदर्शन उनकी रचनाओं में बिखरा हुआ है। उनका कथन है कि उन्होंने सृष्टि के भीतर ही अपने प्रिय को पहिचान लिया है। तभी वे आश्वस्त होकर कहती हैं—

"जो न प्रिय पहिचानती।
कल्पयुग व्यापी विरह को
एक सिहरन में सँभाले,

शून्यता भर तरल मोती
से मधुर सुध दीप बाले,
क्यों किसीके आगमन के
शकुन स्पंदन में मनाती ?"

वे उनके उन्मन संदेश भी जानती हैं, इसीलिये नयनों में पावस और प्राणों में चातक बसाती हैं। परन्तु कवियत्री अपनी विरह-साधना का अन्त नहीं चाहती। प्रतीक्षा-रस में उसकी अटूट ममता है—

"इस अचल क्षितिज रेखा से
तुम रहो निकट जीवन के
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके।

तुम हो प्रभात की चितवन
मैं विधुर निशा बन जाऊँ
काटूँ वियोग-पल रोते
संयोग समय छिप जाऊँ ॥"

ब्राउनिंग के समान वे भी अतृप्ति को जीवन मानती हैं। इसलिये उनके काव्य में विरह और मिलन की समानान्तर निकटता लक्षित होती है।

महादेवी के काव्य में प्रकृति से परिचय पाना शहराती ड्राइंग रूम के फर्श पर वनप्रांगण की हरी दूब को खोजने के समान अप्राकृत प्रयत्न है। वे मानव-मन की कवियत्री हैं। बाह्य सृष्टि को काव्य में सिँगारना उनका काम नहीं है। वे तो प्रकृति से ही अपना शृंगार कराती हैं—

"रंजित करदे ये शिथिल चरण
ले नव अशोक का अरुण राग
मेरे यौवन को आज मधुर
ला रजनीगंधा का पराग
यूथी की मीलित कलियों से
अलि! दे मेरी कबरी सँवार।"

उन्होंने फूलों के नाम सुन रखे हैं; पढ़े भी हैं पर कौन फूल कब कहाँ खिलता है, उसकी चिंता उन्हें नहीं रही। हरसिंगार, शेफाली, पारिजात का फूल भिन्न-भिन्न नहीं, एक ही है। इसे जानने का भी उन्हें अवकाश कहाँ ? प्रकृति उनके काव्य को अलंकृत करने का कार्य अधिक करती है और उनकी भावनाओं की पृष्ठभूमि बनती है, स्वयं काव्य नहीं ! उनके काव्य में तारक, ओस, बिजली, बादल आदि की बड़ी महिमा है। वे बार-बार गीतों में भिन्न-भिन्न प्रतीकों और नामों में झलक उठते हैं। वास्तव में प्रकृति में उन्होंने अपनी ही आशा-निराशा, आकांक्षा और उत्कंठा के चित्र आरोपित किये हैं। वे कभी-कभी स्वयं विराट रूप धारण कर विराट की मिलन-उत्कंठा से प्रकृति के उपकरणों को अपने शृंगार का साधन बनाती हैं—

"शशि के दर्पण में देख-देख
मैंने सुलझाये तिमिर केश।"

प्रकृति में मन के रमने के न कारण वह महादेवी के काव्य में पूरी तरह से बिम्बित नहीं हो पाई। फिर भी आश्चर्य है कि वे सृष्टि के कण-कण को पहिचानने का दावा करती हैं। इसीलिये हमारा संदेह दृढ़ होता है कि महादेवी का काव्य कल्पना की सुन्दर सृष्टि है। अनुभूति के साथ उनकी अभिव्यक्ति का बहुत कम तारतम्य है।

गीतकर्त्री की दृष्टि से महादेवी को प्रसाद और निराला के बीच की शृंखला कहा जाता है। प्रसाद के गीतों में भाव-प्रवणता, निराला के गीतों में चिंतन और महादेवी के गीतों में दोनों का समावेश है। निराला के गीत स्वर-ताल की शास्त्रीय मर्यादा के साथ प्रायः चलते हैं। प्रसाद और महादेवी के गीतों में संगीत-शास्त्र का कोई बंधन नहीं है। निराला में शब्दों के ह्रस्व-दीर्घ के विकार कम पाये जाते हैं, प्रसाद में अधिक पर महादेवी में प्रसाद से कम परन्तु निराला से अधिक मिलते हैं। निराला में भावों की अन्विति के साथ गीतपूर्ण होता है। प्रसाद में भी प्रायः भाव विच्छिन्न नहीं हो पाता पर महादेवी के गीतों में भावों की विच्छिन्नता पायी जाती है। उनका एक गीत एक ही भाव की पूर्ण परिणति नहीं होता। उसमें कई भाव झलक उठते हैं।

छायावाद-युग की काव्यकला महादेवी में पूर्ण वैभव के साथ दिखाई देती है, शब्द की अभिधाशक्ति का वहाँ ज़रा भी सम्मान नहीं है। लक्षणा, प्रतीक और व्यंजना से वह ओतप्रोत है। कवियत्री प्रतीकों के प्रयोग में बहुत स्वच्छंद है। एक प्रतीक एक ही अर्थ में सब जगह प्रयुक्त नहीं होता। कभी-कभी भिन्न स्थलों पर संदर्भ के अनुसार भिन्न अर्थ देता है। इसीसे काव्य प्रायः दुर्बोध हो जाता है। प्रसाद और पंत के समान वचन, लिंग आदि के प्रयोगों में वह व्याकरण के नियमों से बँधना नहीं चाहतीं।

अभी तक रचनाकाल की दृष्टि से महादेवी के निम्न कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं (१) नीहार, (२) रश्मि, (३) नीरजा (४) सांध्यगीत (५) नीहार, रश्मि नीरजा और सांध्यगीत का सम्मिलित रूप यामा (६) दीपशिखा। इन संग्रहों में प्रारम्भिक रचनाओं में संभवतः वय के अनुसार भाव-विगोपन की प्रवृत्ति रही है पर क्रमशः दीपशिखा तक पहुँचते पहुँचते इनका हृदय खुलता गया है और अभिव्यक्ति स्पष्ट हो गई है। नीहार की उदासी, खीझ और झुंझलाहट दीपशिखा तक पहुँचते पहुँचते दूर हो गई है और उसमें परिस्थिति का सर्वोच्च आस्वाद, अभाव का आत्म-संतोष प्रकाशित हो उठा है। दीपशिखा के आगे किस मनोराज्य की भूमि कवियत्री देखना चाहती है, यह भविष्य के गर्भ में है।

---

८. हिन्दी में समालोचना का विकास

समालोचना के दो अंग होते हैं। एक शास्त्र और दूसरा परीक्षण। शास्त्र में श्रेष्ठ साहित्य के लक्षणों का विवेचन होता है। परीक्षण में साहित्य की शास्त्र के अनुसार या अन्य प्रकार से नाप-तोल होती है। शास्त्रीय समीक्षा में आलोचक तटस्थ होकर वैज्ञानिक की भाँति शास्त्र-नियमों की तुला पर साहित्य को तोलता है। दूसरे प्रकार की आलोचना में वह आलोच्य-साहित्य से सर्वथा तटस्थ नहीं रहता। उसके साथ अपनी रुचि-अरुचि का भी मेल करता जाता है। इस तरह अशास्त्रीय परीक्षण के विभिन्न रूपों में प्रभाववादी, सौन्दर्यवादी, प्रशंसावादी, और मार्क्सवादी रूप मुख्य हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी-समीक्षा का प्रारंभ सत्रहवीं शताब्दी से माना जा सकता है। यद्यपि साहित्य की रचना राहुलजी के अनुसार आठवीं शताब्दी से प्रारंभ हो गयी थी फिर भी उस समय साहित्य-शास्त्र-ग्रंथों का अस्तित्व था या नहीं इसका हमें कोई ज्ञान नहीं। आठवीं शताब्दी में सिद्धों ने लोकभाषा में अपने उपदेश व्यक्त करने का उपक्रम कर दिया था। उस समय लोकभाषा संभवतः अपभ्रंश रही होगी। सिद्धों की भाषा में पूर्वी हिन्दी (बिहारी) और बँगला के बीज अधिक पाये जाते हैं। उसी प्रान्त की जनता में सिद्धों की वाणी अधिक मुखरित भी हुई। संस्कृत में साहित्य-शास्त्र-ग्रंथों की कमी नहीं रही। हो सकता है, उन्हीं से प्रेरणा लेकर सिद्ध-साहित्य की रचना हुई हो यद्यपि साहित्य की सृष्टि शास्त्र-सापेक्ष्य नहीं है। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में जैन मुनि नयनंद का 'सुदर्शन-चरित' नामक अपभ्रंश काव्य मिलता है जिसमें नायिका भेद, नख-शिख रति-शृंगार आदि का वर्णन विद्यमान है।

चंदबरदाई की 'पृथ्वीराज रासो' वीरगाथाकाल की प्रथम गुरुतर कृति कही जाती है। जिस समय वह उपलब्ध हुई, एशियाटिक सोसायटी ने उसका प्रकाशन प्रारंभ कर दिया था पर जब उसके प्रामाणिक होने में संदेह किया जाने

लगा तो सोसाइटी ने उसका प्रकाशन स्थगित कर दिया। इस महान ग्रंथ को अप्रामाणिक और जाली सबसे पहले उदयपुर के महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास ने एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में एक लेख लिखकर सिद्ध करना चाहा।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इसकी रचना महाभारत के समान समय-समय पर होती रही। इसलिये इसकी भाषा में एकरूपता नहीं है। वीरगाथाकाल में पृथ्वीराज रासो के अतिरिक्त भी अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं। विद्यापति और खुसरो भी इसी काल में हुए। खुसरो ने तो पहेलियों और मुकरियों में ठेठ खड़ी बोली का प्रयोग किया। इतनी साहित्य-सृष्टि हो जाने पर भी लक्षण-ग्रंथ का न पाया जाना कम आश्चर्य की बात नहीं है। हमारा अनुमान है कि इस काल के उत्कृष्ट लोक-भाषा-कवि संस्कृत के भी पंडित होते थे। इसलिये संस्कृत काव्यानुशीलन से वे काव्यरीति से परिचित हो जाया करते थे। 'शिवसिंह सरोज' में हिन्दी के प्रथम कवि पुष्य का उल्लेख मिलता है। इस कवि के विषय में कहा जाता है कि इसने दोहों में संस्कृत के अलंकारों का अनुवाद किया है। पर यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

वि० संवत् १५९८ में कृपाराम ने 'हिततरंगिनी' की रचना की जिसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"हिततरंगिनी हौं रची, कवि हित परम प्रकासु"

यह ग्रंथ पाँच तरंगों में बँटा हुआ है और भरत के नाट्य शास्त्र पर आधारित है। इसे नायिका-भेद का ग्रंथ कहा जाना चाहिए। इसमें नायिकाओं के दस भेद बतलाये गये हैं। 'रसाल' ने अपने अलंकार-पीयूष में इसका उल्लेख तो किया है पर उसे हिन्दी की कृति मानने में न जाने क्यों सन्देह प्रकट किया है! 'हिततरंगिनी' अब प्राप्य है और उसकी भाषा स्पष्ट हिन्दी है। अतः कृपाराम हिन्दी के प्रथम आचार्य कहे जा सकते हैं। वि० संवत् १६१६ में मोहनलाल मिश्र का शृंगार-सागर रस-नायिका-भेद की कृति है।

सूरदास के समकालीन अष्टछाप के उत्कृष्ट कवि नंददास ने संस्कृत-ग्रंथ

के आधार पर 'रसमंजरी' की रचना की है। स्वयं सूरदास ने अपने ढंग से नायिकाभेद लिखा है। नंददास के उक्त ग्रंथ में नायिकाओं के भेद वर्णित हैं। नायिकाओं में मुग्धानवोढ़ा, विश्रब्ध नवोढ़ा, अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना, मध्या, प्रौढ़ा, मध्याधीरा, मध्याधीराधीरा, प्रौढ़ा के भेद, परकीया के भेद, प्रोषित पतिका, खंडिता, कलहंतरिता, उत्कंठिता, विप्रलब्धा, वासकसज्जा, अभिसारिका, आदि के भेद-वर्णन के पश्चात् नायक भेद भी दिये गये हैं। नायकों में धृष्ठ, शठ, दक्षिण और अनुकूल—ये भेद बताये गये हैं। साथ ही भाव, हाव, हेला, और रति की भी चर्चा की गयी है। यह युग भक्ति काल का था। अतः चोटी के काव्य ग्रंथों के साथ-साथ कुछ कवियों ने लक्षण-ग्रन्थों की रचना में भी हाथ लगाया। नन्ददास के अलावा कुछ अन्य कवियों ने भी दो-चार अलंकारों के ग्रंथ लिखे। इस काल में सबसे समर्थ साहित्य-शास्त्र के आचार्य केशवदास हुए। केशवदास की गणना कवियों में होनी चाहिये या आचार्यों में ? यह प्रश्न हिन्दी के साहित्यकारों के सम्मुख वर्षों से उपस्थित है। पर जनता में केशव, सूर और तुलसी के बाद ही याद किये जाते हैं। (सूर सूर, तुलसी शशी, उडुगण केशवदास) केशव निसंदेह संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। उन्होंने संस्कृत के अलंकार शास्त्रियों में भामह, दंडी, उद्‌भट आदि को अपना आदर्श मानकर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' लिखे। केशव ने इन ग्रंथों में भाषा, कवि-प्रकार, कविता का रूप और उद्देश्य, काव्य के विषय, वस्तु-वर्णन भेद, दोष, अलंकार, रस, वृत्ति आदि पर प्रकाश डाला। यद्यपि केशव ने संस्कृत के आचार्यों के आधार पर ही अपने शास्त्र-ग्रंथों की रचना की है फिर भी यहाँ-वहाँ अपनी ओर से भी कुछ जोड़ दिया है। उदाहरणार्थ आचार्य दंडी के दोषों के साथ अपने भी स्वचिंतित पाँच दोष जोड़ दिये हैं। केशव अलंकारवादी होने के कारण काव्य में अलंकारों के प्रति अधिक आग्रह प्रदर्शित करते हैं। (भूषन बिना न सोभहीं कविता, वनिता मित्त) केशव के ग्रंथों ने यद्यपि रीति-परंपरा हिन्दी में नहीं चलायी तो उनसे भी कवियों में रीति-ग्रंथों के अध्ययन का चाव अवश्य पैदा हुआ।

रीति-ग्रंथों की रचना अबतक काफी हो चुकी थी जिनके आधार पर

प्रायः साहित्य भी लिखा जाता था परन्तु साहित्य के परीक्षण-ग्रंथ प्राप्त नहीं होते। कुछ कवि-ग्रंथों पर टीकाएं लिखने का क्रम प्रारंभ हो गया था और जनता में कवियों पर तरह-तरह की उक्तियाँ भी प्रचलित थीं। उदाहरणार्थ—

उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बरबीर
केसव अरथ गँभीरता, सूर तीन गुण धीर।

यह उक्ति संस्कृत की इस उक्ति के वज़न पर गढ़ी हुई जान पड़ती है :—

१. उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः॥
२. कविता करता तीनि हैं तुलसी, केशव, सूर।
कविता खेती तीन लुनी सीला, विनय, मजूर॥
३. किधौं सूर कौ सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, तन-मन-धुनत सरीर॥
४. तत्व तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची खुची कबिरा कही, और कही सब जूठी॥

परीक्षण-ग्रंथ न लिखने का एक कारण यह भी है कि उस समय गद्य का विशेष प्रचार नहीं हो पाया था। कवि और आचार्य अपना समय और शक्ति पर—निंदा-स्तुति की अपेक्षा स्वकीर्ति-विकीर्णक काव्य-रचना में अधिक खर्च करते थे।

केशवदास के पश्चात् आलोचना की रीति-परंपरा को अग्रसर करनेवाले, आचार्य चिंतामणि त्रिपाठी का स्थान सर्वोच्च है। केशवदास की रीति-परंपरा आगे नहीं बढ़ी परन्तु चिंतामणि त्रिपाठी अपने समय के और परवर्त्ती कवियों के बराबर मार्ग-दर्शक बने रहे। चिंतामणि का समय विक्रमी अठारहवीं शताब्दी का प्रारंभ माना जाता है। मध्यप्रदेश के नागपुर स्थित भोंसला राजा मकरंद शाह के ये दरबारी कवि थे। मकरंद शाह की आज्ञा से इन्होंने अपना पिंगल-ग्रंथ रचा। इस संबंध में वे लिखते हैं :—

"चिंतामणि कवि को हुकुम कियो शाह मकरंद
करौं लच्छ लच्छन सहित, भाषा पिंगल छंद।"

इनके काव्य-विवेक, कवि-कुल-कल्पतरु, काव्यप्रकाश, पिंगल, रामायण और रस-मंजरी नामक ग्रंथों की चर्चा इतिहास-ग्रंथों में मिलती है। ये ग्रंथ बाज़ारों में उपलब्ध नहीं है। डाक्टर भगीरथ मिश्र ने अपने 'हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास' में राजपुस्तकालयों में पांडु-लिपियों के रूप में प्राप्त इनके कतिपय ग्रंथों का परिचय दिया है। इनके कवि-कुल-कल्पतरु ग्रंथ में समस्त काव्यांगों का वर्णन है। जिनमें काव्य-गुण, अलंकार, दोष, शब्द-शक्ति, आदि प्रमुख विषय संस्कृत-ग्रंथों विशेष कर काव्य-प्रकाश और साहित्य-दर्शन-के आधार पर दिये गये हैं। चिंतामणि ने स्पष्ट कहा है—

"जो सुरबानी ग्रंथ हैं, तिनको सम्यक् विचार
चिंतामणि कवि कहत हैं, भाषा कवित्त विचार"

विश्वनाथ की काव्य की व्याख्या 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' बड़ी चलती हुई भाषा में प्रस्तुत की गई है—

"बतकहाउ रस मै जु है कवित्त कहावे सोय"

चिंतामणि छंदोबद्ध रचना को आनंद की वस्तु समझते हैं—

"भाष, छन्द, निबद्ध सुनि, सुकवि होत आनंद"

मम्मट के काव्यप्रकाश की काव्य-परिभाषा "तद् दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" का अनुवाद इस प्रकार किया गया है—

"सगुन अलंकारन सहित, दोष-रहित जो होइ
शब्द, अर्थ बारौ कवित, बिबुध कहत सब कोइ"

'काव्य-प्रकाश' के रचयिता बिना अलंकार की कविता को भी काव्य मानने को तत्पर हैं पर चिंतामणि अलंकार सहित कविता को ही काव्य मानते हैं। चिंतामणि ने काव्य-गुणों का भी विशद-वर्णन किया है। इसका आधार भी 'काव्य प्रकाश' ही है। इस ग्रंथ के द्वितीय अध्याय में अलंकार, (शब्दालंकार) वृत्ति और रीति का वर्णन है। इसके बाद के अध्यायों में उपयुक्त उदाहरणों सहित

अर्थालंकार, दोष, नायिका-भेद, हाव-भाव, तथा रस-वर्णन है। इस ग्रंथ में यद्यपि मौलिकता कम है, तो भी काव्यांगों का विवेचन स्पष्ट है। चिंतामणि का दूसरा ग्रंथ श्रृंगार-मंजरी है जिसमें नायिका-भेद वर्णित है। संस्कृत के आचार्य भानुदत्त की रस-मंजरी इसका आधार है। रसों में श्रृंगार-रस का वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है। चिंतामणि के ग्रंथों का रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दी का अंत और अठारहवीं का प्रारंभ माना जाना चाहिए। चिंतामणि के पश्चात् तोष कवि का रस विवेचन ग्रंथ 'सुधानिधि' लिखा गया। इस ग्रंथ में नौ रसों, भावों भावोदय, भावशांति, भावसबलता, रसाभास, रसदोष, और नायिका भेद का वर्णन है।

रीतिकाल में महाराज जसवंतसिंह का 'भाषा भूषण' बड़ा प्रसिद्ध अलंकार-ग्रंथ है। ये जोधपुर के महाराजा थे। 'भाषा भूषण' में अलंकारों के लक्षण सुंदर उदाहरणों के साथ दिये गये हैं। १०७ अलकारों का वर्णन इन्होंने किया हैं। अलंकारों के अतिरिक्त रस, नायक और नायिका भेद का भी विशद-वर्णन है। इसका आधा जयदेव कृत संस्कृत 'चंद्रालोक' है। महाराज जसवंतसिंह के बाद मतिराम का कृतित्व उल्लेखनीय है। आचार्य के अतिरिक्त मतिराम की गणना रीति के प्रसिद्ध कवियों में की जाती है। जिस प्रकार आधुनिक कवित्रयी-प्रसाद-पंत-निराला-प्रसिद्ध है उसी प्रकार रीतिकाल की देव-बिहारी-मतिराम कवित्रयी भी प्रसिद्ध रही है।

वास्तव में ये आचार्य नहीं, सच्चे कवि हैं परन्तु युग-परंपरा के अनुसार इन्होंने भी लक्षण-ग्रथ लिखे। मतिराम का समय—सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनके 'रसराज' और 'ललित ललाम' ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। 'ललित ललाम' की रचना वि०-संवत् १७१६ और १७४५ के बीच हुई जान पड़ती है। 'रसराज' इसके बाद का ग्रंथ है। 'ललित ललाम' में काव्य-सिद्धान्त और लगभग १०० अलंकार और उनके भेदों का वर्णन है। मतिराम के अलंकार-लक्षण अधूरे और दोषपूर्ण हैं। मतिराम ने लक्षणों के उदाहरणों में अपनी काव्य-प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। 'रसराज' में श्रृंगार-रस का विवेचन

है। नायिका-भेद भी दिये गये हैं। मतिराम ने भाव की परिभाषा में अपनी ओर से थोड़ा विस्तार भी कर दिया है।

"लोचन, वचन, प्रसाद, मृदु, हास, बास, धृत, मोद,
इससे परगट जानिये, बरनत सुकवि विनोद"

इनके पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने नेत्र, मुख और वचन से ही मन का भाव प्रकट करना निरूपित किया था। मतिराम हास, वास, मोद तक बढ़ गये हैं। 'रसराज' में भी मतिराम का शास्त्रीय विवेचन गहन नहीं है। ये अपने ज्येष्ठ बंधु चिंतामणि के समान श्रेष्ठ आचार्य नहीं हैं। चिंतामणि के तीसरे भाई भूषण का नाम भी अलंकारिकों में गिना जाता है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'शिवराज भूषण' है। इनके अन्य ग्रंथ प्राप्त नहीं हैं। इस ग्रंथ में १०० अर्थालंकारों का वर्णन है और ५ शब्दालंकारों का भी उल्लेख है। अपने भाई मतिराम के समान इनकी प्रवृत्ति लक्षण-विवेचन की ओर कम और उदाहरणों की ओर अधिक है। आचार्य की दृष्टि से भूषण का भी विशेष महत्त्व नहीं है। ये अपने युग के स्पृहणीय वीररस के राष्ट्रीय कवि हैं, जिनकी ओजमयी वाणी अपने समय में निराली ही हुँकार भरती है। भूषण के बाद कुलपति मिश्र के 'रस-रहस्य' और 'गुण-रस-रहस्य' का लक्षण-ग्रंथों में अच्छा स्थान है। 'रस-रहस्य' 'काव्य प्रकाश' पर आधारित है। बीच-बीच में इन्होंने अपना मत भी व्यक्त किया है—गद्य रूप टिप्पणी में भी। इनके ग्रंथों में मौलिकता नहीं है। फिर भी विवेचन का ढंग मतिराम और भूषण से अच्छा है। कुलपति के बाद सुखदेव मिश्र का उल्लेख मिलता है। इनके छः ग्रंथ हैं—'वृत्त विचार', 'छंदविचार' 'रसार्णव' 'शृंगार लता, 'पिंगल', और 'फाजिलअली प्रकाश'। अंतिम ग्रंथ औरंगज़ेब के मंत्री फाजिलअली की प्रशंसा में है, जिसमें रस और छंदों की चर्चा की गई है। पहिले दो ग्रंथ और 'पिंगल' छंद-शास्त्र का निरूपण करते हैं। 'रसार्णव' में रस-विवेचन है। आचार्य की दृष्टि से इनका महत्त्व छंद-शास्त्र-विवेचन के कारण है। सुखदेव मिश्र के बाद आचार्य देव का स्मरण आता है। ये हिंदी के अत्यंत प्रसिद्ध कवि हैं। रीतिकालीन कवियों में देव के प्रतिस्पर्धी बिहारी माने जाते हैं। द्विवेदी-युग में देव और बिहारी को लेकर मिश्रबंधु,

पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन आदि में काफी वाद-विवाद चलता रहा। मिश्रबंधु देव को बिहारी से श्रेष्ठ सिद्ध करते रहे और पद्मसिंह शर्मा तथा लाला भगवानदीन बिहारी के सिर पर श्रेष्ठता का सेहरा बाँधते रहे।

देव का रचनाकाल संवत् १७४६ और १७६० के बीच माना जा सकता है। इनके ग्रंथों की संख्या ७० से भी ऊपर है, जिनमें बहुत से काव्य-शास्त्र-ग्रंथ हैं। 'काव्य रसायन' 'भाव विलास', 'रसविलास' 'सुजान विनोद' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। रस और नायिका-भेद की चर्चा इन्होंने अधिक की है। शब्द-शक्ति, वृत्ति, अलंकार आदि विषय भी अधूरे नहीं रह पाये।

देव ने अलंकारों की संख्या केवल ३६ रखी है। इन्होंने अलंकारों पर विशेष आग्रह नहीं दिखाया। ये रसवादी प्रतीत होते हैं। पर नवरसों को नहीं मानते। ये शृंगार को ही मूल रस की उपाधि देते हैं। अपने 'भवानी-विलास' में कहते हैं—

"भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल शृंगार।
तेहि, उछाह निर्वेद है, वीर, सांत, संचार॥"

देव अन्य आचार्यों के समान 'सात्विक और संचारी भावों में भेद नहीं करते। वे उन्हें एक ही मानते हैं -- सात्विक संचारी शरीर पर दिखाई देते हैं—अन्य संचारी मानसिक हैं। देव ने शृंगार का विवेचन अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक ढंग से किया है और नायिकाभेद का जितना विशद निरूपण किया है उतना रीतिकालीन किसी कवि ने नहीं किया। इन्होंने नायिका की जाति, कर्मगुण, देश-काल-वय, प्रकृति तथा सत्व के हिसाब से उनका वर्गीकरण किया है। वर्ग के भेद-उपभेद भी किये हैं। अन्य आचार्यों ने नायिका का वय के अनुसार विभाजन तो किया है पर नायिका कितनी वय तक मुग्धा, कितनी वय तक मध्या और कितनी वय तक प्रौढ़ा रहती है, इसका निर्देश नहीं किया। कर्मानुसार इन्होंने नायिका के स्वकोया, परकीया और गणिका-भेद किये हैं। परकीया पर इनकी यह पंक्ति बहुत प्रसिद्ध है—"भूलेहू न योग, बड़ी विपति वियोग व्यथा, जोग हूते कठिन संयोग परनारी को।" देव के समय में लक्षण-

ग्रंथों की इतनी अधिक परिपाटी चल पड़ी थी कि कोई भी कवि बिना लक्षण-ग्रंथ के कविता लिखता ही नहीं था। राज-दरबार में उसका सम्मान भी इसी पर निर्भर था। श्री प्रभुदयाल मीतल ने यह ठीक ही लिखा है, "वि० सं० १७७५ से १८२५ तक का ५० वर्ष का समय रीति-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ तथा गौरवपूर्ण काल कहा जा सकता है"।

देव के पश्चात् कालिदास त्रिवेदी, सूरति मिश्र, कृष्णभट्ट, गोप, श्रीपति, रसिकसुमति, सोमनाथ, रसलीन आदि ने भी रीति ग्रंथों की रचना की। सूरति मिश्र मन को प्रसन्न करने वाले वर्णन को काव्य कहते हैं।—"वर्णन मनोरंजन जहाँ रीति अलौकिक होय"। यह अभिव्यंजना को महत्त्व देते हैं। नैसर्गिक प्रतिभा, शास्त्रज्ञान, और अभ्यास को कविता-निर्माण का कारण बतलाते हैं। सूरति मिश्र ने काव्य के अन्य अंगों का भी विशद वर्णन किया है। श्रीपति रीतिकालीन काव्य शास्त्रियों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'काव्यसरोज' उनका प्रमुख ग्रंथ है, जो 'काव्यप्रकाश' पर आधारित है। इसमें जो दोषों पर वर्णन है वह इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि इसमें हिंदी के कवियों की रचनाओं से दोष संकलित किये गये हैं, विशेष कर केशव के। सोमनाथ का 'रसपीयूष-निधि' (रचनाकाल सं० १७९४ वि०) प्रसिद्ध ग्रंथ है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में (सोमनाथ के) "इस ग्रंथ में विषय को स्पष्ट करने की प्रणाली बहुत अच्छी है। वे दोषहीनता, अर्थालंकारता तथा गुण को ही काव्य के लिये आवश्यक नहीं मानते उसमें छंदोबद्धता की भी आवश्यकता अनुभव करते हैं।" मम्मट के 'काव्य प्रकाश' के समान ही कविता का उद्देश्य ये यश, धन, लोकमंगल और आनंद मानते हैं। व्यंग को 'काव्य की आत्मा' मानते हैं।

आचार्य भिखारीदास को मिश्रबंधुओं ने विशेष महत्त्व दिया है। इनका काव्यनिर्णय प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें काव्य शास्त्र के सभी उपकरणों की विवेचना है। संस्कृत 'काव्य प्रकाश' और 'चंद्रालोक' पर यह आधारित है। ध्वनि-सिद्धांत की स्पष्ट मीमांसा है। ये संभवतः ध्वनि को काव्य का प्राण मानते हैं। इन्होंने काव्य-भाषा पर भी ऐसा प्रकाश डाला है जो अन्य आचार्य ओझल कर गये हैं। ये ब्रजभाषा को काव्य-भाषा मानते हुए भी संस्कृत और फारसी शब्दों

का स्वागत करते हैं। अलंकारों के सामान्य आधार पर इनके वर्ग निर्मित करना भिखारीदास की ही सूझ है। यों 'दास' के लक्षण-वर्णन संस्कृत ग्रंथों पर ही आधारित है। पर काव्य-भाषा अलंकार-वर्गीकरण, तुक-निर्णय आदि पर उन्होंने मौलिक विचार भी प्रस्तुत किये हैं, जिसका प्रभाव आधुनिक काल के पिंगलाचार्य 'भानु' पर भी पड़ा है। दूलह का 'कविकुल कंठाभरण' प्रसिद्ध और प्रामाणिक ग्रंथ है। इसमें ११७ अलंकारों का विशद वर्णन है। ८१ छंदों में ही इन्होंने इन अलंकारों को बड़ी खूबी के साथ निरूपित कर दिया है। रीतिकाल के प्रसिद्ध और अंतिम आचार्य 'पद्माकर' हैं। ये मध्यप्रदेश के ही थे। इनका जन्म संवत् १७१० और मृत्यु-संवत् १७७० है। ये ७० वर्ष की आयु भोग कर स्वर्गवासी हुए। इनका भाषा पर अच्छा अधिकार है। शब्दों को इस तरह ठोक-पीट कर गढ़ते हैं कि वह कहीं भी बैठ जाता है। दास के समान ये भी ब्रजभाषा में फारसी-संस्कृत का सुन्दर मेल करने में प्रवीण हैं। 'जगत विनोद' पर आचार्य रामचंद्र शुल्क की सम्मति है—'मतिराम के रसराज के समान पद्माकर का 'जगतविनोद' भी काव्य-रसिकों और कवियों दोनों का कंठहार रहा है। वास्तव में यह शृंगाररस का सार ग्रंथ प्रतीत होता है। उनकी मधुर कल्पना ऐसा स्वाभाविक और हाव-भाव पूर्ण मूर्ति-विधान करती है कि पाठक मानों प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसी सजीव मूर्ति-विधान करने वाली कल्पना बिहारी को छोड़ कर और किसी कवि में नहीं पाई जाती। ऐसी कल्पना के बिना भावुकता कुछ नहीं कर सकती। या तो वह भीतर ही भीतर लीन हो जाती है अथवा असमर्थ पदावली के बीच व्यर्थ फड़फड़ाया करती है। कल्पना और वाणी के साथ जिस भावुकता का संयोग होता है वही उत्कृष्ट काव्य के रूप में विकसित हो सकती है।''

रीतिकाल के बीत जाने पर आधुनिक युग में उदय के प्रवेश के साथ साथ आलोचना की गति-विधि में भी परिष्कार हुआ। हरिश्चंद्रकालीन कवि रीतिकाल के प्रभाव से मुक्त नहीं थे इसलिए लक्षण-ग्रंथों की परंपरा को सर्वथा भुला नहीं सके। पर हरिश्चंद्र ने नाटक के उपकरणों की गद्य में चर्चा की जिसका आधार संस्कृत नाट्य-शास्त्र ही है। उनके सम-सामयिक कवियों-लेखकों ने

आलोचना के परीक्षण-अंग पर भी ध्यान दिया। अपने समय की कृतियों के गुण-दोष की रीति-दृष्टि से समीक्षा की। पं० बदरीनारायण चौधरी ने आनंद कादम्बिनी पत्रिका में 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना की। संवत् १७५६ में जब सरस्वती का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ—साहित्य-समीक्षा की ओर लेखकों का विशेष ध्यान गया। लेखकों की कृतियां पर गुण-दोष विवेचनात्मक आलोचनाएं-प्रत्यालोचनाएं बराबर छपने लगीं। आ० द्विवेदी के समय आलोचना-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिख कर तुलनात्मक समीक्षा की नींव डाली। उनकी आलोचना बड़ी चुटीली साथ ही सहृदयता से भरी हुई होती थीं। पर उन्हींके समकालीन आलोचकों ने विशेषकर बाबू श्यामसुंदरदास और पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी कवियों को 'घटिया-बढ़िया' बतलाने वाली शैली को तनिक भी पसंद नहीं किया। पर इससे उनका आलोचना क्षेत्र में महत्त्व कम नहीं हुआ। हाँ, यह बात अवश्य है कि श्रम-साध्य-कर्म होने से उनका अधिक अनुकरण नहीं हुआ। द्विवेदी-युग में काव्य ही नहीं साहित्य के सभी अंगों पर समालोचनाएँ होने लगीं। प्रत्येक साप्ताहिक, मासिकपत्र समालोचना के स्तंभ से विभूषित रहने लगा। उसमें पुस्तकों की ही नहीं देशी-रूमाल, अमृत धारा, पाचकवटिका और इत्र की शीशियों तक की समालोचनाएँ छपने लगीं। ऐसी सम्मतियाँ अधिकांश में बिक्री के लिए—बाज़ार के लिये—होती थीं। संपादक प्रत्येक विषय का आचार्य नहीं होता। अतः उससे यह आशा भी नहीं की जा सकती कि वह प्रकाशित प्रत्येक विषय के ग्रन्थ पर सम्मति दे। 'माधुरी' के प्रकाशन के बाद से संपादकों ने प्रकाशकों से प्रत्येक पुस्तक की दो-दो प्रतियाँ माँगने का नियम-सा बना लिया। एक प्रति अपने लिए और दूसरी विशेषज्ञ के लिए। यह क्रम आज तक जारी है। पर क्या विशेषज्ञ भी निरपेक्ष आलोचना कर पाता है? संपादक से पुस्तक प्राप्त होते ही लेखक या उसके मित्र सम्पादक या आलोचक के पास पहुँच जाते हैं और अनुकूल सम्मति लिखवा कर बाजार में उसका विज्ञापन करते हैं। ऐसी स्थिति में स्वस्थ समालोचना का पनपना कठिन ही है। हिन्दी में ऐसे बहुत कम पत्र हैं जिनकी समालोचनाओं की सच्चाई पर पाठक भरोसा रख सकता है।

हाँ, तो—आधुनिक युग में साहित्य-शास्त्रों की रचना साहित्य-रचना के साथ बीच-बीच में होती रही। ऐसे आचार्य में भानु, मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दरदास, रामचंद्र शुक्ल, महावीरप्रसाद द्विवेदी, लाला भगवानदीन गुलाबराय, हरिऔध, अर्जुनदास केड़िया, रामशंकर शुक्ल, 'रसाल' कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र, विश्वनाथ मिश्र, 'सुधांशु' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

भानु ने 'काव्य प्रभाकर' और 'छंद प्रभाकर' नामक दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। 'काव्य प्रभाकर' में काव्य संबंधी उपयोगी सामग्री जुटाई गई है। 'छंद-प्रभाकर' में छंदों का विवेचन है। मिश्र बंधुओं ने 'कवि कुल कंठाभरण' की टीका के अतिरिक्त 'साहित्य-पारिजात' नामक अलंकार-ग्रंथ की रचना की है। इसमें प्राचीन हिंदी-कवियों के (आधुनिक कवियों में शायद उन्होंने अपने ही उदाहरण देकर संतोष कर लिया है।) उदाहरण दिये गये हैं। डा० श्यामसुंदर-दास का 'साहित्यालोचन' प्रसिद्ध ग्रंथ है, जिसका पहिला संस्करण हडसन के 'इन्ट्रोडक्शन टू लिटरेचर के अनुवाद से बोझिल था। पर अब नवीन संस्करण पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्य-सिद्धांतों की आत्मसात् सामग्री के साथ उपलब्ध है। हिन्दी के विद्यार्थियों को किसी ग्रंथ के गुण-दोष की परख कराने की दृष्टि से इसकी रचना की गई है। इसमें साहित्य के सभी अंगों पर विचार किया गया है। नाटकों के तत्त्वों पर प्रकाश डालने वाला भी इनका एक ग्रंथ है। रामचंद्रशुक्ल आधुनिक समीक्षा को गौरवान्वित करने वाले अमर आचार्य हैं। इन्होंने अपने निबंधों में, जो 'चिंतामणि' भाग १, २ के नाम से प्रकाशित हैं, काव्य की समस्त समस्याओं पर विचार किया है। अपने समय के वादों की भी भारतीय-दृष्टि से समीक्षा की है। भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतों का समन्वय करना इनका लक्ष्य रहा है। कविता को युग की परिस्थिति के साथ परखने की दृष्टि इन्होंने हिंदी-समीक्षकों को दी। आज प्रगतिवादी समीक्षक साहित्य का समाज के साथ आग्रह पूर्वक योग प्रस्थापित करते हैं। क्या यह शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति का ही विकसित रूप नहीं है? हाँ अन्तर यही है कि शुक्ल जी वर्तमान समाज-व्यवस्था को किसी बाहरी क्रांति से अव्यवस्थित बनाने के पक्ष में नहीं रहे।

तुलसी के समाज-धर्म के प्रबल समर्थक रहे हैं। उनके लोकमंगल में 'बहु-जन हिताय' का ही विचार निहित है। साहित्य का उद्देश्य लोकहित होना चाहिये, यह शुक्लजी का आग्रह रहा है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आलोचना-शास्त्र का कोई ग्रंथ तो नहीं लिखा परन्तु उन्होंने कविता के रूप, उसकी भाषा, उसके प्रयोजन और विषय पर स्फुट निबंधों में विचार अवश्य प्रकट किये हैं। लाला भगवानदीन रीति-परंपरा के आचार्य हैं। उनका 'अलंकार-मंजूषा' अलंकारों पर अच्छा प्रकाश डालता है। इन्होंने अलंकारों के लक्षण दोहों में दिये हैं। 'व्यङ्ग्यार्थ मंजूषा' भी इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है। बिहारी को देव से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए इन्होंने बिहारी और देव नामक पुस्तक लिखी है। केशव और बिहारी पर इनकी टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। प्राचीन साहित्य के ये बड़े अच्छे मर्मज्ञ थे। गुलाबराय ने रसों पर अच्छा मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। इधर इनके 'सिद्धांत और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' नामक दो ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। जिनमें साहित्य के सभी अंगों पर विशद विवेचन है। 'हरिऔध' का आचार्यत्व उनके ग्रंथ रस-कलश से सिद्ध होता है। इसमें रस और नायिका-भेद का विश्लेषण है। नायिका-भेद का वर्गीकरण कुछ नये ढंग से किया गया है: जैसे पति-प्रेमिका परिवार-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, लोक-सेविका आदि। सेठ अर्जुनदास केडिया ने अलंकारों पर 'भारती भूषण' नामक उपयोगी पुस्तक की रचना की है, जिसमें हिंदी कवियों के उदाहरण दिये गये हैं। 'रसाल' का 'अलंकार पीयूष' (दो भाग) उनकी डाक्टरेट की थीसीस है। हिंदी-संस्कृत ग्रंथों का इसे निचोड़ कहना चाहिए। कन्हैयालाल पोद्दार के 'अलंकार प्रकाश' 'रस मंजरी' और 'अलंकार मंजरी' मुख्य ग्रंथ हैं। 'अलंकार मंजरी' श्रेष्ठ ग्रंथ हैं। श्री रामदहिन मिश्र के 'काव्यालोक' और 'काव्य-दर्पण' प्रसिद्ध साहित्य शास्त्र के ग्रंथ कहे जा सकते हैं। लेखक के ये ग्रंथ संस्कृत अलंकार और काव्य-शास्त्र पर आधारित हैं परंतु विवेचना गहन अध्ययन की परिचायिक है। लेखक ने काव्यालोक में पूर्व और पश्चिम को साहित्य-मान्यताओं को आचार्य शुक्ल की भाँति समन्वित करने का यत्न नहीं किया; भारतीय साहित्य-पद्धति का निरूपण उसका लक्ष्य रहा है। श्रीहरिशंकर शर्मा ने 'रस-रत्नाकर' की रचना बड़ी विद्वत्ता

के साथ की है इसमें नायिका-भेद का भी निरूपण है। श्री विश्वनाथ मिश्र ने कई भागों में 'काव्यांग कौमुदी' की रचना कर काव्यांगों का निरूपण किया है। लेखक शास्त्र-चर्चा को छात्रों तक पहुँचाने के लिये उत्सुक जान पड़ता है। इसलिये वह अपने विवेचन में बहुत स्पष्ट हैं। हाल ही उसने बिहारी पर नई दृष्टि से विचार किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने डा० श्यामसुंदरदास की तरह 'साहित्य का साथी' लिखकर आधुनिक आलोचना शास्त्र का दिशा-निर्देश किया है। इसमें भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धांतों का गठबंधन साधा गया है। साहित्य शास्त्र विवेचन के अतिरिक्त साहित्य-परीक्षण के क्षेत्र में भी लेखक का स्थान अग्रणी है। उसकी शैली में शास्त्रीय, प्रभाववादी, मानसशास्त्रवादी, प्रगतिवादी आदि सभी तत्त्व आश्रय पाते हैं।

इस युग में साहित्य शास्त्र-रचना के साथ-साथ साहित्य-परीक्षण का कार्य करने वाले आलोचकों की ऊपर चर्चा की जा चुकी है। अब हम उन आलोचकों पर भी एक विहंगम दृष्टि डालते हैं जो साहित्य-शास्त्रों की रचना न कर साहित्य-परीक्षण का ही कार्य करते हैं। द्विवेदी युग में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आलोचना का जो रूप निर्धारित किया उसको ग्रहण करने वाले आलोचकों में नंददुलारे बाजपेयी छायावादी युग में 'भारत' के माध्यम से प्रकाश में आये। उनकी आधुनिक कवियों, तथा लेखकों पर लिखी गई समीक्षाओं ने जनता का ध्यान आकर्षित किया। 'हिंदी साहित्य-बीसवीं शताब्दी' और 'आधुनिक साहित्य' उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। दोनों ग्रंथ स्फुट लेखों के संग्रह हैं परंतु उनके अध्ययन से आधुनिक हिंदी साहित्य की गति-विधि का अच्छा ज्ञान हो जाता है। उनके निष्कर्षों से हर स्थान पर सहमत न होते हुये भी उन पर मनन करने को जी चाहता है। उदाहरणार्थ नायक की स्त्री नायिका परंपरा से मानी जाती रही है। परंतु लेखक 'साकेत' की चर्चा करते समय रूढ़ि की पर्वा न कर आधुनिकों की तरह भरत को नायक और लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला को नायिका बनाता है। पता नहीं गुप्तजी के मस्तिष्क में यह सूझ रही है या यह आलोचक की अभिनव स्थापना है। फिर भी यह स्थापना ऐसी है कि उस पर विचार किये बिना नहीं रहा जाता। यह आवश्यक नहीं कि रूढ़ि ग्रस्त

परम्परा के पीछे ही चला जाय। छायावाद युग में 'जोशीबंधु' और अवध उपाध्याय अपनी खरी, तीखी आलोचना के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। श्री इलाचंद्र जोशी आज भी आधुनिक हिंदी साहित्य पर मनोविश्लेषण युक्त समीक्षा लिखते हैं जिससे कभी-कभी यह भान होने लगता है कि कहीं फ्रायड का प्रभाव तो इन पर नहीं है। हिंदी में नगेंद्र ऐसे समीक्षक हैं जिन्हें निश्चित रूप से फ्रायडवादी कहा जाता है पर अतृप्त वासना का चश्मा चढ़ाकर ही तो हर साहित्य को नहीं देखा-परखा जा सकता। हमारा ख्याल है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि रखते हुए भी नगेंद्र में रसवादिता कम नहीं है। छायावाद युग की नीहारिकामयी प्रवृत्ति प्रदर्शित करनेवाले आलोचकों में शांतिप्रिय द्विवेदी का स्मरण आता है। ये अपने आलोच्य ग्रंथ के साथ इतने अधिक डूब जाते हैं कि इनके मंतव्यों को ठीक तरह से ग्रहण करना प्रायः कठिन हो जाता है। छायावाद-युग में प्रभाववादी आलोचना का जो दौर-दौरा था उसकी पूरी छाप इस समालोचक पर अंकित है। श्री रामनाथ सुमन ने छायावाद की रूपरेखा सबसे पहिले प्रस्तुत की। इनका १९२८ के लगभग 'माधुरी' के विशेषांक में इस विषय पर प्रकाशित लेख बड़ा उद्बोधक था। 'प्रसाद की काव्यसाधना' 'प्रसाद' पर संभवतः प्रथम विवेकपूर्ण ग्रंथ है। आधुनिक कवियों पर स्वतंत्र रूप से ग्रंथ लिखने का सिलसिला शायद 'सुमन' से ही होता है। बाद में 'नगेंद्र' ने 'पंत' पर और सत्येंद्र ने 'मैथिलीशरण' पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखे। आचार्य शुक्ल ने जायसी, तुलसी और सूर पर गवेषणात्मक आलोचनाएं लिखीं। कबीर पर डा० रामकुमार और डा० हजारीप्रसाद ने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। मीराबाई पर श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अध्ययनपूर्ण विवेचनात्मक ग्रंथ प्रस्तुत किया। साहित्य में मार्क्सवाद का प्रचलन होने के बाद मार्क्सवादी समीक्षकों का भी प्रादुर्भाव हुआ। श्री शिवदानसिंह चौहान ने प्रगतिवादी—साहित्य की वैज्ञानिक ढंग से विवेचना की। रामविलास शर्मा, की प्रगतिवादी आलोचना में काफी जोश-खरोश रहता है। इसके विपरीत, प्रकाशचंद्र गुप्त शांतभाव से कृति की सतह को देखकर प्रायः संतुष्ट हो जाते हैं। उनका 'आज का हिंदी साहित्य' समय-समय पर लिखी हुई पुस्तक-समीक्षाओं का संग्रह मात्र है। बिहार के 'सुधांशु' ने काव्य और जीवन के तत्त्वों तथा अभिव्यंजनावाद पर शास्त्रीय विवेचन की

है और संक्षेप में पंत, दिनकर, माखनलाल, बच्चन आदि पर भावुकतामय उतराती हुई चर्चा भी की है। स्त्री-समीक्षकों में श्रीमती शचीरानी ने काफी ख्याति लाभ की है। १९५० में प्रकाशित उनके 'साहित्य-दर्शन' की हिंदी साहित्यकारों में पक्ष-विपक्ष रूप में इतनी अधिक चर्चा हुई है जो उस ग्रंथ की प्रभविष्णुता की परिचायक है। लेखिका में आलोच्य-कृति के साथ अनासक्त-योग-भाव प्रबल है। यही उसकी सफलता का रहस्य है। 'साहित्य-दर्शन' के बाद लेखिका का दूसरा ग्रंथ 'साहित्यिकी' है। प्रथम ग्रंथ में भारतीय कलाकार और पाश्चात्य कलाकारों का कुछ आधारों पर साम्य खोजने का यत्न किया गया है। दूसरी कृति में हिन्दी साहित्य के वाद और काव्य-कृतियों पर समीक्षात्मक संतुलित निबंध हैं। दूसरी स्त्री आलोचिका सुश्री पद्मावती 'शबनम' हैं, जिनके दो ही ग्रंथ प्रकाश में आ सके हैं और वे हैं 'मीराँ, एक अध्ययन' और 'बृहत् मीराँ पद संग्रह'। इनमें लेखिका की अनुसंधान वृत्ति का परिचय मिलता है। अभी हाल में ही श्री परशुराम चतुर्वेदी का 'हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह' नामक महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है जो उनकी 'उत्तरी भारत की संत-परम्परा' के बाद की उत्तम कृति है। प्रयोगवादी समीक्षकों में अज्ञेय, भारती और माचवे का भी अपना स्थान है। पत्रों में 'साहित्य सन्देश' के बाद 'आलोचना', 'प्रतीक', 'कल्पना' और 'अजन्ता' से साहित्य-समीक्षा को नवगति मिल रही है।

अंग्रेज़ी रोमेंटिक युग के कवियों की भाँति आज हमारे साहित्य में भी प्रत्येक कवि और लेखक समीक्षक है। उनमें से अधिकांश सामयिक साहित्य पर जब तब मत भी व्यक्त करते रहते हैं।

---

६. छायावादी कवियों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण

प्रथम महायुद्ध के बाद हिन्दी साहित्य में नूतन चेतना का उदय हुआ। इसलिये नहीं कि उस पर युद्ध का सीधा प्रभाव पड़ा। पर पराधीन देश उससे अछूता बचा रहा, यह कहना भी गलत है। ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए भारतीय धन-जन की आहुति चढ़ाई गई (हमारे देश के चोटी के नेताओं ने भी उस समय युद्ध सहायता प्रदान की) और जब मित्र राष्ट्र जीते तो भारतीयों को उसकी सेवा के उपलक्ष्य में दमनकारी कानूनों के शिकंजों में जकड़कर रौंदा गया-पीसा गया। इसकी प्रतिक्रिया समस्त देश में हुई। गांधी जी के नेतृत्व में देश स्वाधीनता के लिये छटपटाने लगा, वह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष मार्ग से विद्रोह के पथ पर चलने लगा। देश को बाह्य क्रांति साहित्य में प्रतिबिंबित हुई।[1] इस समय हिंदी कविता के दो रूप दिखलाई दिये। एक तो वह जिसमें देश की स्वाधीन भावना मुक्त कंठ से मुखरित हो रही थी—कवि अपने चारों ओर की उत्पीड़नमयी घटनाओं और जनता के रोष को अभिधा में व्यक्त कर रहे थे। ऐसे कवि राष्ट्रीय कवि कहलाये दूसरा वह जिसमें धर्म-समाज-साहित्य की रूढ़ियों से विमुख हो कवि अपनी सत्ता को स्वच्छन्द से रीति से प्रतिष्ठित करने का आग्रह कर रहे थे। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जा सकता है कि देश के बाह्य

---

[1] "आकाश में आच्छन्न होने वाले बादल जिस क्रांति से उमड़े थे, छायावाद भी ठीक उसी क्रांति का पुतला था। जिस क्रांतिकारी भावना के कारण बाह्य जीवन में राजनीतिक दुरवस्थाओं की अनुभूतियां तीव्र होती जा रही थीं, वही भावना साहित्य में छायावाद का रूप धारण कर खड़ी हुई थी और मनुष्य की मनोदशा विचार एवं सोचने की प्रणाली में विप्लव की सृष्टि कर रही थी।"

दिनकर (मिट्टी की ओर)

राजनीतिक विद्रोह में भाग लेने में अक्षमपन ने साहित्य के निरापद क्षेत्र में अपनी स्वच्छन्दता वृत्ति का परिचय दिया। यही स्वच्छन्दतावाद आगे चलकर छायावाद-रहस्यवाद से अभिहित किया जाने लगा। ऐसे कवि छायावादी कहलाये पर हिन्दी छायावाद में स्वच्छन्दतावाद का जो रूप दिखलाई दिया वह प्रथम महायुद्ध के पश्चात् के कवि हार्डी यीट्स या डी ला मेरे आदि का स्वच्छन्दतावाद नहीं है। उसमें तो रोमेंटिक युग के वर्ड्स्वर्थ, शेली, कीट्स, कॉलरिज आदि की आत्मा झाँक रही है सीधे या बंगला के माध्यम से।

जिस प्रकार अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद के कवियों ने कविता की पुरातन मान्यताओं का तिरस्कार कर उसे नये रूप में प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार छायावादी कवियों ने कविता को देखने की नई दृष्टि दी, जिससे पूर्ववर्ती शास्त्रीय समीक्षा धीरे-धीरे दूर होकर कालेजीय विवेचना-टीकाओं में सिमट कर रह गई। प्रसाद कहते हैं, "इस युग की ज्ञान सम्बन्धिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचना-शैली का व्यापक प्रयत्न क्रियात्मक रूप से दिखलाई देने लगा। किन्तु साथ ही साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता को भी दुहाई सुनी जा रही है।" प्रसाद ने भी साहित्य-कला की विवेचना करते समय भारतीय पारिभाषिक शब्दों का विस्मरण नहीं किया पर उनकी व्याख्या में आधुनिकता भरने की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देती है। वे कहते हैं, "यदि हम भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य में न रख कर साहित्य की विवेचना करने लगेंगे... तो प्रमाद कर बैठने की आशंका है।" इस तरह छायावादी कवि पाश्चात्य और भारतीय दोनों मान्यताओं को लेकर चले हैं। साहित्य क्या है? कविता क्या है? उसके प्रेरक स्रोत क्या हैं? उसका भाव और बाह्य रूप-विधान (form) से क्या सम्बन्ध है? वह युग-सापेक्ष है या निरपेक्ष? आदि प्रश्नों पर उन्होंने विचार-चिन्तन किया है। प्रसाद ने काव्य को "आत्मा की संकलात्मक अनुभूति कहा है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नहीं है।" वे काव्य और कला में लिखते हैं, "वह (काव्य) एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह

निस्संदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।" संकल्पात्मक मूल अनुभूति से 'प्रसाद' का तात्पर्य है "आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है।" प्रसाद का श्रेय 'सत्य ज्ञान' ही है जिसकी व्यक्तिगत सत्ता नहीं है उसे वे 'एक शाश्वत चेतनता या चिन्मयी ज्ञान धारा' कहते हैं जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। 'असाधारण अवस्था' युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है।"

'प्रसाद' की काव्य की यह रहस्यमयी व्याख्या आंग्लरोमेंटिक-युग के कवियों की अन्तर्प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान के समान जान पड़ती है।

ब्लेक का कथन है, "Vision or Imagination is representation of what externally Exists Really and Unchangeably" (भीतरी झलक या कल्पना बाह्यावस्थित शाश्वत सत्य का प्रतिनिधिकरण है) काव्य प्रतिभा परम सत्य (Truth and Reality) को अनुभव करने की शक्ति का नाम है। प्रसाद का 'सत्य', 'शाश्वत चेतन' या 'चिन्मयी ज्ञानधारा' ब्लेक के Truth and Reality से दूर नहीं है। वह भी इन्हें अपरिवर्तनशील कहता है। कॉलरिज भी कविता को विशिष्ट अनुभूति की अभिव्यक्ति मानता है और उसमें 'भीतरी सत्य' का आभास पाता है।

अंग्रेजी रोमेंटिक कवि काव्य को प्रसाद के शब्दों में प्रायः 'आत्मा की अनुभूति' मानते हैं। क्योंकि वे उसमें आध्यात्मिकता का किसी न किसी रूप में समावेश करते हैं। प्रसाद की तरह डा० रामकुमार का मत है, "आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौंदर्य राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता है।"

छायावादी कवि आंग्ल समीक्षकों के समान कविता के आत्मपरक (Subjective) और परात्मक (Objective) भेद को नहीं मानते।

डा० रामकुमार कहते हैं, 'जिस समय आत्मा का व्यापक सौंदर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। उस समय क्षण-क्षण में 'मैं' और 'सब' में विपर्यय हो जाता है। 'मैं' चिरन्तन भावनाओं में 'सब' का रूप धारण कर लेता है। पं० माखनलाल का वक्तव्य है—"साँस और सूझ जिस तरह एक दूसरे के विद्रोही नहीं, उसी तरह विश्व के प्रलयंकर और कोमल परिवर्तन तथा युग का निर्माण तथा दूसरी तरफ हृदयोन्मेष तथा विश्व के विकास के वैभवशील कौशल दोनों में कहीं विद्रोह नहीं दीख पड़ता। क्योंकि एक कवि के रक्त की पहचान और सिर का दान माँगती है और दूसरी ओर, वस्तु में समा सकने के कोमलतर क्षणों के उच्चतर समर्पण का प्रमाण चाहती है। एक कवि का निश्चय और दूसरी कवि की अनुभूति बनकर रहना चाहती है।" 'निराला' की ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

> **"मैंने 'मैं' शैली अपनाई**
> **देखा एक दुखी निज भाई**
> **दुख की छाया पड़ी हृदय में**
> **झर उमड़ वेदना आई।"**

महादेवी कहती हैं—"जीवन का वह असीम और चिरंतन सत्य जो परिवर्तन की लहरों में अपनी क्षणिक अभिव्यक्ति करता रहता है, अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपों की एकता लेकर साहित्य में व्यक्त होता है। साहित्यकार जिस प्रकार यह जानता है कि बाह्य जगत् में मनुष्य जिन घटनाओं को जीवन का नाम देता है, वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उसके आकर्षण की परिचायक हैं, जीवन नहीं; उसी प्रकार यह भी उससे छिपा नहीं कि जीवन के जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है उसी की छाया इन घटनाओं को व्यक्त रूप देती है। इसी से देश और काल की सीमा में बँधा साहित्य रूप में एक देशीय होकर भी अनेक देशीय और युग विशेष से सम्बन्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए संवेदनीय बन जाता है।"

कॉलरिज श्रेष्ठ कविता उसी को मानता है जिसमें कवि अपने सुख-दुख

से ऊपर उठकर सृष्टि के सुख-दुख में अपने को मिला देता है।[१] Self **regarding emotions** स्वार्थसीमित भावनाओं में प्रेषणीयता नहीं होती। पंत 'आधुनिक कवि' में स्वीकार करते हैं—, "यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दुख के सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है।" बौद्धिकता और भावप्रवणता (emotions) को पंत एक मानते हैं।[२] प्रसाद ने भी बुद्धि और भाव को मन के ही दो रूप प्रतिपादित किये हैं।[3] अतः जो बाह्यात्मक (objective) रचनाओं को बौद्धिक कहकर उनका इसलिये उपहास करते हैं कि उसमें कवि का 'मन' नहीं रमा रहता, यह भ्रांति है। कवि को द्रवित होने के लिए उसी पर सीधी चोट पड़ना आवश्यक नहीं है। वह बाह्य वस्तु के माध्यम से भी पीड़ित हो सकता है। विधवा की करुण मानसिक स्थिति के अंकन के लिए कवि को स्वयं विधवा बनने की आवश्यकता नहीं। उसके हृदय की संवेदन-शीलता विधवा के दुःख को कल्पना के माध्यम द्वारा ग्रहण कर लेती है। इसी से कल्पना को केवल 'बुद्धि-व्यापार' नहीं कहा जा सकता। वह कवि की संवेदनशीलता से जाग्रत होती है और उसमें स्वयं संवेदना भी भरती है। (गीति काव्य (Lyrical Poetry) में कवि के 'स्व' को देखना और अन्य रचनाओं में उसको तटस्थ कहना पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र का गड़बड़झाला है।) पंत ने सजग हो 'स्व' और 'पर' में विभेदक पर्दा नहीं रहने दिया। इससे हिन्दी-समीक्षा को एक नई दृष्टि ही मिली है।

---

[१] "So long as the poet **gives utterances merely** to the subjective feeling he has **no right to the title.**" Colleridge.

[२] **"बौद्धिकता हार्दिकता ही का दूसरा रूप है।"**

(आधुनिक कवि—८)

[3] **'मनु'—अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी लग सकता है। कामायनी (आमुख में)**

काव्य की अभिव्यंजना के सम्बन्ध में छायावादियों में मतभेद है। अभिव्यंजना में भाषा, छन्द, अलंकार आदि का समावेश है। वह काव्य की बाह्य आकृति (Form) है। कलाकार के मन में कलाकृति का चित्र पूर्णरूप से उतर आता है, तभी अभिव्यक्ति में पूर्णता आती है। 'प्रसाद' कहते हैं—'जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने में पूर्ण हो सकी है। वही कौशल या विशिष्ट पद-रचना युक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सका है।"[1] (काव्य और कला)

भावाभिव्यंजना भाषा और प्रायः छन्द का रूप धारण करती है। भाषा को भावानुगामिनी होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में 'पंत' का आग्रह है—"कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए। जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों।" (पल्लव) छायावादी कवियों ने 'भाषा को माधुर्य प्रदान करने में कम योगदान नहीं दिया। कहीं-कहीं तो इसी से कवि की अनुभूति उसी के आवरण में ओझल हो गई। तभी आचार्य रामचंद्र शुक्ल को जोर से कहना पड़ा कि छायावादी अभि-व्यंजना पर ठहर गये हैं; उनकी भावना का स्रोत सूख गया है। 'प्रसाद' ने छायावादी रचना को 'अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर कर दिया। उन्होंने कहा—'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।[2]

भाषा में 'प्रतीक' शब्दों के प्रयोग की ओर छायावादी कवि का विशेष आग्रह रहा है। उसने 'कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण, और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काट-छाँट कर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमल कलेवर दिया।'[3] निराला भी भाषा को

[1] काव्य और कला [2] वही, पृष्ठ १४१

[3] महादेवी-आधुनिक कवि पृ० १०

'भावों की अनुगामिनी' मानते हैं और यह भी कि, "बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही।" छायावादियों ने भाषा की पुष्टि और भावों में तीव्रता भरने के लिए अलंकारों का उपयोग किया है। 'पंत' उन्हें 'राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान'[1] कहते हैं। जीवन में एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम लाने के लिये 'पंत' काव्य में छन्द की आवश्यकता अनुभव करते हैं। "हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छंदों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता, उन्हीं के द्वारा उसके सौंदर्य की रक्षा की जा सकती है। संस्कृत के 'वर्णवृत्त' हिन्दी की प्रवृत्ति के प्रतिकूल हैं क्योंकि उनकी नहरों में उसकी धारा अथवा चंचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता कलकल, छलछल तथा अपने क्रीड़ा-कौतुक, कटाक्ष एक साथ खो बैठती, उसकी हास्य-दृप्त सरल मुख मुद्रा गंभीर, मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती, उसका चंचल भृकुटि-भङ्ग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है।" भगवती चरण वर्मा 'मुक्त छंद की कविता को अधिक से अधिक गद्यकाव्य मानते हैं। कविता नहीं।"[2] दिनकर कविता में छन्द को स्वाभाविक मानते हैं। क्योंकि 'छन्दः स्पंदन समग्र सृष्टि में व्याप्त है। कला ही नहीं, जीवन की प्रत्येक शिरा में यह स्पंदन एक नियम से चल रहा है। सूर्य, चंद्र, ग्रहमण्डल और विश्व की प्रगतिमात्र में एक लय है जो समय के ताल पर यति लेते हुए अपना काम कर रही है।'[3] 'लय' और ताल पर महत्त्व देने के कारण ही कई छायावादियों ने भाषा के व्याकरण की अधिक पर्वा नहीं की। द्विवेदी-युग में जहाँ कविता परम्परागत अलंकार छन्दों में वस्तु-वर्णन का शास्त्र बन गई थी, वहाँ छायावाद-युग में कवियों ने उसे परखने का एक नया दृष्टिकोण प्रचलित किया। वस्तु के साथ भाव का मेल किया और उसे कला के साथ समन्वित करने का प्रयास कर क्रोशे के शब्दों में 'Intuition and Expression' का सुन्दर गठबन्धन किया।

---

[1] पल्लव-भूमिका

[2] प्रगतिशील कविता पर रेडियो प्रसारित परिसंवाद

[3] मिट्टी की ओर पृ० १२१

उनके सामने जीवन को देखने का भी प्रश्न था—"जीवन ऐसा होना चाहिए, जीवन ऐसा है और जीवन सबसे पृथक् है" की समस्या उनके सामने खड़ी थी 'जीवन ऐसा होना चाहिये' में आदर्शवाद, 'जीवन ऐसा है' में यथार्थ-वाद और 'जीवन सबसे पृथक् है' में व्यक्तिवाद आ जाता है।

महादेवी ने 'आदर्श' और 'यथार्थ' दोनों पर विचार किया है। "आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन संकीर्णता धोकर उसे बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामंजस्य को देखने की शक्ति देता है। हमारी व्यष्टि में सीमित चेतना को, मुक्ति के पंख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है और हमारी खंडित भावना को अखंड जागृति देकर उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है।" "यथार्थ स्थूल बन्धनों के भीतर निश्चित स्थिति रखता है।" "आदर्श का सत्य निरपेक्ष है परन्तु यथार्थ को सीमा के लिये सापेक्षता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य रहेगी।" "आदर्शवादी कलाकार अपनी सृष्टि को अन्तर्जगत् में घेर लेता है और यथार्थवादी अपने निर्माण को केवल बाह्य जगत में बिखरा देता है।" पर यथार्थवादी कवि का 'कर्म' सहज नहीं है। महादेवी उसमें अशिवत्व-तत्त्व नहीं देखना चाहतीं। महादेवी जीवन में ऐसे आदर्श को अपनाना चाहती हैं जिसे प्रेमचंद ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा है। ऐसा आदर्श जो यथार्थ के संकेत छोड़ जाता है। 'बच्चन' आदर्श और यथार्थ दोनों से स्फूर्ति पाते हैं। उनका इंगित है "देखते नहीं कि उसका (कवि का) एक हाथ उपवन में खिली चमेली का हिमकण हार उतार रहा है और दूसरा हाथ भविष्य के तमोमय साम्राज्य में निर्भीकता के साथ प्रविष्ट होकर उषा की साड़ी खींच रहा है। देखते नहीं, उसका एक कान निर्झरिणी की रागिनी श्रवण कर रहा है और दूसरा कान इन्दु के अखाड़ों में खड़े हुए संधर्व, किन्नर और अप्सराओं के आलाप का आनन्द ले रहा है।"[1] आज हिन्दी में जिस यथार्थवादी साहित्य को प्रगतिवाद के नाम से पुकारा जाता है, उस सम्बन्ध में छायावादियों का दृष्टिकोण यह है कि वे इन यथार्थवादी रचनाओं में कवि का 'यथार्थ' पाते ही नहीं। 'प्रसाद' का मत है, "यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ

[1] मधुबाला-प्रलाप पृ० १०-११

नहीं ठहरता। क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है— समाज कैसा है या था।" प्रसाद आदर्शवाद के भी भक्त नहीं है। क्योंकि 'आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। वे साहित्य को इन दोनों 'वादों' से ऊपर उठा ले जाते हैं। वे आदर्श और यथार्थ का मेल कराते हैं। कहते हैं— "दुःख दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।"

महादेवी भी यथार्थवाद को 'जीवन का इतिवृत्त' (इतिहास) कहती हैं। इसीलिये वह 'प्रकृति और विकृति' दोनों चित्र देने के लिए स्वतंत्र है। पर जीवन में विकृति अधिक प्रसारगामिनी है। परिणामतः यथार्थ की रेखाओं में वही बार-बार व्यक्त होती रहती है।" अतः महादेवी जीवन को स्वस्थ विकास देने वाली शक्तियां को प्रगति देने वाले प्रकृति-चित्रकार को सच्चा यथार्थवादी मानती हैं। पर आज की 'यथार्थवादिनी' कविता ऐसे 'कण्ठ' से उत्पन्न हो रही है जो श्रमिक जीवन से नितान्त अपरिचित हैं।" 'महादेवी' और 'प्रसाद' चूँकि यथार्थ जगत् के भौतिक जीवन से अधिक परिचित नहीं हो पाये इसलिये उनमें उसके प्रति तीव्र संवेदना नहीं जाग सकी। पंत की भी यही स्थिति है— उनकी भी यथार्थ मानव जीवन के प्रति 'बौद्धिक सहानुभूति' रही है। प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श की उपयोगिता को नष्ट होते देख कर भी 'पंत' ने आदर्श से विद्रोह नहीं किया पर यथार्थ की उपेक्षा भी नहीं की। दोनों का समन्वय करके कविता को एक नया 'तन्त्र' उन्होंने देना चाहा—"मेरा विश्वास है, लोकसंगठन, तथा मनः संगठन एक दूसरे के पूरक हैं। क्योंकि वे एक ही युग (लोक) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।" (उत्तरा) "आज साहित्यकार कभी व्यष्टि सेअसंतुष्ट होकर समाज की ओर झुकता है कभी समाज से असंतुष्ट होकर व्यक्ति की ओर।" पंत की धारणा है, "इन दोनों किनारों पर उसे अपनी समस्याओं का समाधान नहीं मिलेगा।" इसीलिए वे "बहिरन्तर" जीवन के समन्वय को ही प्रधानता देते हैं। इस तरह 'पंत' साहित्य में समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं। यह दृष्टिकोण 'प्रसाद'के 'समरसता' का पर्याय कहा जा सकता है।

छायावादी कवि राजनीति के दायरे में अपने को नहीं बाँधना चाहते।

'निराला' के शब्दों में "एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्त्व देता है तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एक देशीय भावना के कारण घटा देता है। साहित्यिक मनुष्य की प्रवृत्तियों को ही श्रेय देता है; जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का सम्बन्ध है।" दिनकर भी साहित्य को राजनीति का अनुचर नहीं मानते। "कला क्षेत्र में हमारा दृष्टिकोण सच्चे अनि-षेध का होना चाहिए। कवि के लिए जो प्रथम और अन्तिम बन्धन हो सकता है, वह केवल इतना ही है कि कवि अपने आपके प्रति पूर्णरूप से ईमानदार[1] रहे।"

संक्षेप में, छायावादी कवियों में प्रायः अंग्रेजी रोमैंटिक कवियों की प्रवृत्ति पायी जाती है। उनमें साहित्य की रूढ़ मान्यताओं के प्रति अनास्था की तीव्रता न होते हुए भी उनसे आग्रह पूर्वक लगाव भी नहीं है। वे कविता को अन्तर्बाह्य अनुभूति का परिणाम मानते हैं। इसलिये उसके आत्मपरक और परात्मक भेद को बहुधा नहीं मानते। अन्तर में "मधुर-मधुर मेरे दीपक जल" की मनुहार करने वाली महादेवी और 'मेरे नगपति मेरे विशाल' पर दृष्टि जमाने वाले दिनकर एक ही पंक्ति में बैठते हैं। दिनकर की बाह्य दृष्टि होने पर उसका बिम्ब उनके अन्तरपट पर ही पड़ता है। इसी प्रकार छन्दों की रूढ़ता से विरक्ति दिखाने पर भी उन्हें त्यागने के स्थान पर नूतन छन्दों की खोज में वे व्यस्त दीखते हैं। भाषा में बाह्य शृंगार से उन्हें प्रेम है। प्रकृति के प्रति तादात्म्य प्रदर्शित कर वे उससे स्फूर्ति ग्रहण करते हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति में भी अभिन्नता-स्थापित करना उनका ध्येय है। साहित्य को युगपेक्षी बनाना उनका लक्ष्य नहीं है। पर युग-चेतना से वे अनुप्राणित भी होना चाहते हैं।

वे भावपक्ष पर आग्रह प्रदर्शित करते हैं। इसलिये भारतीय रसवादी हैं। वे कला पक्ष के प्रति सहज ममता रखते हैं। इसलिये पाश्चात्य अभि-व्यंजनावादी हैं। उनमें भाव और कला दोनों को समान अनुभव करने की प्रवृत्ति है। इसलिये उनका दृष्टिकोण 'समरसता' अथवा 'समन्वय' का है।

---

[1] मिट्टी की ओर

१०. कलाकार और सौन्दर्य-बोध

सौदर्न्य क्या है, उसका 'बोध' कैसे होता है; और कवि या कलाकार पर उसकी किस प्रकार प्रतिक्रिया होती है ? ये प्रश्न वर्षों से साहित्य और दर्शन में 'विवाद' बने हुए हैं। क्रोचे अपने 'सौन्दर्य-शास्त्र' में "सफल अभिव्यक्ति" को सौन्दर्य कहता है। दूसरे शब्दों में वह अभिव्यक्ति (Expression) को ही सौंदर्य का पर्याय मानता है क्योंकि अभिव्यक्ति यदि सफल नहीं है तो वह अभिव्यक्ति ही नहीं है। गाल्सवर्दी ने 'लय और सजीवता (Rhythm and Vitality) में सौन्दर्य के दर्शन किये हैं। उसका कथन है कि जहाँ 'कला है वहाँ लय और सजीवता होनी ही चाहिये।' क्षेमेन्द्र ने 'उचित स्थान विन्यास' को सौन्दर्य कहा है। यह गाल्सवर्दी के सन्तुलन और लय (Harmony and Rhythm) का ही भारतीयकरण है। अरस्तू भी अनुपात (Symmetary) को सौन्दर्य का तत्त्व कहकर क्षेमेन्द्र के 'औचित्य' का ही समर्थन करता है। मद्रूप गोस्वामी ने 'अङ्गों' के यथोचित सन्निवेश को सौन्दर्य कहा है। सौन्दर्य की स्थूलता की यह व्याख्या है जिसमें 'सन्तुलन', 'लय' 'औचित्य' आदि का समावेश किया गया है। इसे ही हम 'वस्तु' का बाह्य रूप कह सकते हैं। इस स्थूलता में 'वर्ण' का विचार नहीं है, श्याम और गौर दोनों एक तुला पर 'सम' उतरते हैं। तुलसी ने राम का स्थूल वर्णन किया है—

> **"ठाढ़े हैं नौ द्रुम डार गहे, धनु काँधे धरे, कर सायक लै**
> **विकटी भ्रकुटी, बड़री अँखियाँ, अनमोल कपोलन की छबि है।**
> **तुलसी, असि मूरति आनि हिये जड़ डारिधौं प्रान निछावरि कै**
> **स्रम-सीकर साँवरि देह लसै मनो रासि महातम तारक-मै॥"**

अत्यन्त अँधेरी रात के समान राम की साँवली देह भी सुन्दर है क्योंकि उसमें संतुलन है—'अङ्गों का यथोचित सन्निवेश' है। व्यक्ति ही नहीं, कला के प्रत्येक

अङ्ग में यथोचित सन्निवेश से सौन्दर्य झलकता है। पर जो सौन्दर्य को वस्तुगत नहीं, भावगत मानते हैं वे उसकी स्थिति हर जगह देखते हैं। सृष्टि के ऐसे कोई अंग नहीं जो सुन्दर न हों। उर्दू का एक कवि कहता है—

"इश्क है हुस्न का ख़ालिक तुम्हें मालूम नहीं।
मैं जहाँ चाहूँ वहीं हुस्न नुमायाँ हो जाय।"

(तुम नहीं जानते कि प्रेम सौन्दर्य का निर्माता है। इसलिये मैं जहाँ चाहूँ वहीं सौन्दर्य देख सकता हूँ।)

ह्यूम द्रष्टा या 'भोक्ता' के मन में सौन्दर्य की स्थिति मानता है। अतः सौन्दर्य सापेक्ष भाव ही हुआ जो द्रष्टा के मानने न मानने पर अवलम्बित है। आस्तिकवादी अदृष्ट में परम सौन्दर्य को निहित कल्पित करते हैं। अतः जब वह अपनी सृष्टि में समाया हुआ है तब 'संसार' में असुन्दरता का अस्तित्व कैसे संभव है ? यह **परम सौन्दर्य सत्य** का ही पर्याय है। इसीलिये कीट्स गाता है—

"Truth is Beauty; Beauty is truth, that is all ye need to know." और उर्दू का कवि भी—

"उसी का जलवा हर जानिब अयाँ है,
नमूदे हुस्न बेसूरत कहाँ है !" —हसरत मोहानी

हमारे साहित्य में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' पदावली का बहुत प्रचार है। यह पदावली बँगला से ली गई या अंग्रेजी से, यह कहना कठिन है। बँगला में रवीन्द्र के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ को इसे प्रचलित करने का श्रेय प्राप्त है पर उन्होंने यह शब्दावली कहाँ से ग्रहण की इस पर वहाँ भी निश्चित रूप से किसी ने कुछ नहीं कहा। विक्टर कज़िन की **'The true, The Good and the Beautiful'** नामक एक पुस्तक है। क्या इसी से यह 'शब्द-त्रय' लिया गया है ?

सौन्दर्य को भावगत (मानसिक प्रक्रिया) मानने से ही हमारे यहाँ आचार्यों ने 'रस' को आनन्द की पराकाष्ठा माना है और जहाँ आनन्द की पराकाष्ठा है

वहीं 'सौन्दर्य' है पण्डितराज जगन्नाथ ने लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करने वाले ज्ञान के प्रत्यक्षीकरण को **रमणीयता** से सम्बोधित किया है। रवीन्द्रनाथ ने मंगल और सौन्दर्य की साथ-साथ अवस्थिति मानी है—दूसरे शब्दों में वे सत्यं शिवम् और सुन्दरम् में भेद नहीं देखते। वे लिखते हैं—"जो वस्तु मंगल होती है वह एक तो हमारी आवश्यकता को पूर्ण करती है और दूसरे वह सुन्दर होती है।...हम जो मंगल को सुन्दर कहते हैं—वह आवश्यकता को पूर्ण करने की दृष्टि नहीं।...बात यह कि जितनी भी मंगल वस्तुएँ हैं उनका समस्त संसार के साथ एक अत्यन्त गम्भीर सामञ्जस्य है, उनका समस्त मनुष्यों के मन के साथ निगूढ़ मेल है।" आगे रवीन्द्रनाथ सत्य का भी मंगल से तादात्म्य स्थापित करते हैं—"यदि हम सत्य के साथ मंगल का पूर्ण सामञ्जस्य देख सकें तो फिर सौन्दर्य हमारे लिये अगोचर नहीं होता।"[1]

कवि पहले सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण करता है और तब उसका उद्घाटन करता है। सौन्दर्य से कवि की सृजनात्मक प्रेरणा जाग्रत होती है। यह सभी सौन्दर्य शास्त्रियों का मत है। कवि की कृति में हम उसकी आत्मविभोरता देखते हैं। जब तक वह 'सत्य' के साथ एक रस नहीं होता, उसकी कृति में पूर्णता नहीं आती। जिस सौन्दर्य सत्य को कवि ने अपने भीतर अनुभव किया है उसे ही वह अपनी अभिव्यक्ति द्वारा समाज-योग्य बनाता है। इसलिये एक लेखक ने सभी प्रकार की कला को "The actual work is the objective evidence of the artists subjective experiance..." कलाकार की अनुभूति अपनी कला में साकार होकर मुखरित हो उठती है। हेगेल के शब्दों में "मूर्त द्वारा अमूर्त को प्रकट करना" ही कलाकार का ध्येय होता है प्रत्येक मानव में जन्मजात सौन्दर्य भावना विद्यमान रहती है पर कवि में वह असामान्य होती है। इसलिये उसकी दृष्टि जहाँ जम जाती है वहीं सौन्दर्य को खोज लाती है। उसके लिए कोमल से कोमल वस्तु सुन्दर है और कठोर से कठोर, वीभत्स से वीभत्स भी! यदि सजल बादलों से भरा हुआ आकाश उसे

[1] साहित्य

'अच्छा' लगता है तो उसी में विकीर्ण ग्रीष्म की प्रखर तप्त किरणें भी उसे भाती हैं। सद्यः स्नाता की देह-कान्ति पर यदि उसकी तरल दृष्टि ठहर जाती है तो मृत्यु की विभीषिका उपस्थित करने वाली रक्त-रंजित युद्ध-भूमि भी उसकी कृति को सँवारती है।

कवि की कला सत्य को पूर्ण रूप से प्रकाशित करने के बाद ही 'सफल' होती है। रसवादी खण्डित रस को स्वीकार करते ही नहीं क्योंकि भावक तो कवि के साथ अखण्ड रूप से एक होना चाहता है। जो कवि अपने पाठक को सिर से पैर तक भिगा नहीं सकता, उसे सत्य का पूर्ण साक्षात्कार हुआ ही नहीं, ऐसा समझना चाहिए। कवि जब तक किसी सत्य का पूर्ण चित्त अपने मानस पर अंकित नहीं कर लेता, वह उसका बाह्य रूप उपस्थित नही कर सकता। इसलिये तो क्रोचे अनुभूति (भाव) और अभिव्यक्ति (कला) को अभिन्न मानता है। कवि अपने 'सत्य' को प्रतीकों में व्यक्त करने का भी अभ्यासी होता है। पर प्रतीक ऐसे नहीं होने चाहिए कि समाज उनसे सर्वथा अपरिचित हो। अपरिचित प्रतीकों में जब उसकी सौन्दर्यानुभूति व्यक्त होती है तब वह समाजगत नहीं बन पाती—उसका साधारणीकरण नहीं हो पाता। ऐसी दशा में कवि का 'सौन्दर्य-बोध' 'दृष्टिकूट' बन जाता है, जिससे 'आनन्द-रस' नहीं झर पाता और जिस कला कृति से रसता नहीं उत्पन्न हो सकती उसकी सृष्टि का उद्देश्य ही क्या हो सकता है?

११. भारतेन्दु की गद्य-भाषा

भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी के प्रवर्तक कहे जाते हैं। आज हम साहित्य में जिन भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों को विकसित रूप में देखते हैं उनका प्रारम्भ भारतेन्दु और उनके साथियों ने निश्चित रूप से कर दिया था। कविता के क्षेत्र में उनके समकालीन कवि नई सामाजिक चेतना को उनके साथ ही प्रतिध्वनित कर रहे थे पर गद्य की भाषा का संस्कार-कार्य हरिश्चन्द्र ही अत्यन्त आग्रह के साथ कर रहे थे। हरिश्चन्द्र के पूर्व राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द और राजा लक्ष्मण सिंह में भाषा के रूप पर विवाद चल रहा था। इसमें सन्देह नहीं कि राजा सितारे हिन्द ने हिन्दी को पाठ्यक्रम में स्थान दिला और उसे शिक्षा का माध्यम बनवाकर हिन्दी की अनुलनीय सेवा की है। वे उर्दू (फारसी) लिपि और थोड़े बहुत फारसी-अरबी के शब्दों का प्रयोग नीति की दृष्टि से करते थे परन्तु जब लोगों ने उनकी नीयत पर हो सन्देह करना प्रारम्भ कर दिया तब उनके हृदय में भीषण प्रतिक्रिया पैदा हुई और वे कट्टर उर्दू पन्थी बन गए। उन्होंने 'भाषा का इतिहास' में लिखा है—'हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए जो आमफहम व खास पसन्द हैं; हर्गिज गैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिये और संस्कृत की टकसाल कायम करके नये ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिये।' इसके उत्तर में 'रघुवंश' की भूमिका में राजा लक्ष्मणसिंह ने लिखा था कि 'हिन्दो में संस्कृत के पद आते हैं और उर्दू म फारसी के......यह आवश्यक नहीं कि अरबी फारसी के बिना हिन्दी न बोली जाय......न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी फारसी के शब्द भरे हैं।

भारतेन्दु के सामने दो महारथियों के भाषा विषयक दो निर्देश थे जो दो दिशाओं की ओर ले जाने वाले थे। यद्यपि सितारेहिन्द भारतेन्दु के गुरु थे तो भी उन्हें उनका मार्ग हिन्दी की प्रगति के लिए घातक प्रतीत हुआ और

उन्होंने स्पष्ट विरोध किया।[1] राजा लक्ष्मणसिंह का सर्वथा संस्कृत के प्रति झुकाव भी उन्हें हिन्दी की गति में बाधक जान पड़ा। अतः उन्होंने मध्य मार्ग स्वीकार किया। उन्होंने अपनी भाषा में न तो उर्दू का मुल्लापन आने दिया और न संस्कृत का पंडिताऊपन ही बढ़ने दिया। सच बात तो यह है कि भारतेन्दु ने विषय के अनुरूप अपनी भाषा का रूप उपस्थित किया है। सन् १८८४ में भारतेन्दु ने 'हिन्दी भाषा' शीर्षक निबन्ध लिखा जिसमें उन्होंने अपनी दो प्रिय शैलियों का उल्लेख किया है। १—(अ) 'जहाँ, हीरा-मोती, रुपया-पैसा, कपड़ा-अन्न, घी तेल, अतर-फुलेल, पुस्तक खिलौना इत्यादि की दुकानों पर हजारों लोग काम करते हुए मोल लेते हुए बेचते दलाली करते दिखाई पड़ते हैं।' (ब) 'पर मेरे प्रीतम! अब तक घर न आये क्या उस देश में बरसात नहीं होती है? या किसी सौत के फन्दे में पड़ गये, कि इधर की सुधि ही भूल गये, कहाँ तो प्यार की बातें कहाँ ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना।' (२) 'पुल टूट गये बाँध खुल गये, पंक से पृथ्वी भर गई, पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाये। वृक्ष समेत कूल तोड़ गिराया, महानदियों ने मर्यादा भङ्ग कर दी और स्वतंत्र स्त्रियों की भाँति उमड़ चली।'

प्रथम शैली में भारतेन्दु लोकभाषा के अधिक सन्निकट हो गए हैं और दूसरी शैली में साहित्य-भाषा के। जब किसी साहित्यिक विषय का प्रतिपादन अभीष्ट होता तो उनकी शैली एकदम संस्कृत-बहुला हो जाती। उनका 'नाट्य-रचना' लेख इसी शैली में लिखा गया है। उदाहरणार्थ, चित्रकार्य के निमित्त जो-जो उपकरण का प्रयोजन और स्थान विशेष की उच्च-नीचता दिखलाने की जैसी आवश्यकता होती है वैसे ही वही उपकरण और उच्च-नीचता दिखलाने की जैसी आवश्यकता होती है वैसे ही वही उपकरण और उच्च-नीचता प्रदान पूर्वक अति सुन्दर रूप से मनुष्य के बाह्य भाव और कार्य प्रणाली के चित्रकरण की अपेक्षा सहज भाव से उसका मानसिक भाव और कार्य-प्रणाली दिखलाना

---

[1] भारतेन्दु की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए 'सितारे हिन्द' ने कहा था "हाय! मेरा विरोध करने वाला प्यारा भारतेन्दु अब नहीं रहा।"

प्रशंसा का विषय है। जो इस भाँति दूसरे का अन्तर्भाव व्यक्त करने को समर्थ है और उन्हीं को नाटककार सम्बोधन दिया जा सकता है और उन्हीं के प्रणीत ग्रन्थ नाटक में परिगणित होते हैं।"[1]

भारतेन्दु के नाटकों की भाषा, सन्दर्भ, पात्र और रस के अनुसार कभी सरल उर्दू मिश्रित और कभी संस्कृत से अलंकृत दिखलाई देगी। उदाहरणार्थ "बहुत अच्छी बात है, जल्द गाना शुरू करो, तुम्हारा गाना सुनकर मेरा इश्तियाक हर लहज़े बढ़ता जाता है। जैसी तुम खूबसूरत हो वैसा ही तुम्हारा गाना भी खूबसूरत होगा।"[2]

"महाराज! देखिये, आपके स्वागत के लिए मकरन्दोद्यान ने कैसी तैयारी की है। मन्द-मन्द मलयानिल से आन्दोलित हो मण्डलाकार ऊपर उठे हुए सहकार मञ्जरियों के पराग पटल का सुन्दर पट-वितान तन रहा है और मधुमत्त मधुकर-निकर के मधुर झंकार से मिलित मधुमय मनोहर कोकिलालाप संगीत कैसा सुख दे रहा है।"[3]

उपर्युक्त उदाहरणों में भारतेन्दु की भाषा-शैली के मुख्यतः दो रूप भी दिखलाई देते हैं। (१) भाव प्रधान (२) विवेचन प्रधान। पहिली शैली नाटकों में प्रधान है और दूसरी लेखों में; पर जहाँ शब्द-चयन का प्रश्न है भारतेन्दु ने गम्भीर-विषय के प्रतिपादन के समय संस्कृत की ओर अधिक झुकाव दिखाया है। नाटकों में पात्रों के अनुरूप संस्कृत या आमफहम भाषा से गृहीत शब्दावली मिलती है। प्रान्तीय शब्दों और व्याकरण दोषों से भी वह यत्र-तत्र आक्रान्त है। फिर भी भाषा का घरेलूपन कम मीठा नहीं है। सत्य हरिश्चन्द्र की निम्न वाक्य रचना कितनी घरेलू और प्रवाही है—मैं तो आप ही आती थी, वह एक पनहारिन आ गई थी, उसी के बखेड़े में लग गई, नहीं तो अब तक कभी की आ चुकी होती।"

---

[1] **मुद्राराक्षस नाटक की भूमिका, खड्ग विलास प्रेस, पृ० ३०**

[2] **नीलदेवी में मद्यप अमीर**

[3] **रत्नावली नाटिका, खड्ग विलास प्रेस, संस्करण पृष्ठ २५**

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भारतेन्दु की भाषा व्याकरण की दृष्टि से सर्वथा निर्दोष नहीं है। भाषा दोष के कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

'श्यामता' के स्थान पर उन्होंने 'श्यामताई', 'अधीरपना' के स्थान पर 'अधीरजपना', 'कृपा की है' के स्थान पर 'कृपा किया है', 'हुई' के स्थान पर 'भई', 'करे' के स्थान पर करै, सजें के स्थान पर सजैं, इसी प्रकार लिखैं, कहैं' ब्याहैं, हयैं, क्यौंकि, पुस्तकैं, तुम्हैं, जब से सो के (कर) उठी हूँ, 'अब देख न हैं तू कैसा काव्य पढ़ती है' 'ऋषि ने अपनी पतोहू को अच्छा बालक होने का चरू दिया होगा', 'तब त्रिशंकु वशिष्ठ के सौ पुत्रों के पास गया और उसने उनसे भी कोरा जवाब पाया।'' ''महानन्द को नौ पुत्र थे।'' आदि में पद और वाक्य-रचना के दोष पाये जाते हैं। कहीं-कहीं संस्कृत के समान विशेषण का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार भी पाया जाता है जैसे निश्चला भक्ति। (कई आधुनिक लेखक भी इस प्रकार का रूप प्रयोग में ला रहे हैं) प्रान्त - प्रयोग के अनुसार शब्दों का लिङ्गविपर्यय भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ—शिष्टाचार पुल्लिङ्ग होते हुए भी स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त है (''आपको इतनो शिष्टाचार नहीं सोहती'') आड़ - स्त्रीलिङ्ग होकर भी पुल्लिङ्ग रूप धारण किये हुए है—''भेस धर कर परदे के आड़ में खड़ा है'' (कर्पूर मञ्जरी पृष्ठ ५) खोजने पर अन्य दोष भी दिखाई दे सकते हैं और उदाहरणों की संख्या भी बढ़ाई जा सकती है। परन्तु जिस काल में भारतेन्दु ने गद्य लिखना प्रारम्भ किया था उसे देखते हुए उनकी भाषा उस समय के लेखकों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है, गठी हुई है।

मिश्र-बन्धुओं ने उनकी शैली का परीक्षण करते हुए लिखा है—''भारतेन्दु ने संस्कृत और उर्दू दोनों के प्रचलित शब्दों का अपनी खड़ी बोली में आदर किया। आपकी भाषा लोक पक्ष के लिये बहुत ही श्रेष्ठ थी, किन्तु पीछे के बहुतेरे लेखक प्रचुरता से संस्कृत शब्द गुंफन प्रेमी हैं।......भाषा माधुर्य, प्रसाद, अर्थ व्यक्ति, कान्ति, सुकुमारता आदि सद्गुणों को धारण किये हुए हैं। छन्दों में धारावाहिता प्रस्तुत है, और कथनों में मूर्ति-मत्ता के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। अनुपम हाव-विधान, चेष्टा-चित्रण, सञ्चारियों की व्यञ्जना, लोको-

क्तियों का प्रचुर समावेश, विचार स्वातन्त्र्य, वर्णन-विदग्धता, चमत्कार-कौशल, दक्षतापूर्वक प्रचुर हास्य-विनोद, ऊहा की प्रगल्भता, स्वभावोक्ति की सूक्ष्मता, वियोग की कसक, प्रेम-पिपासा, जिन्दादिली, चपलता, रस-प्राचुर्य, भावावेश आदि भारतेन्दु की रचना में बहुत आधिक्य से प्राप्य हैं। भारतेन्दु ने चलती, फिरती, हँसती बोलती गठी हुई, लचीली चमकदार भाषा की ऐसी उत्कृष्ट-शैली निकाली, जिसे अन्य लेखकों ने दोनों हाथों से सत्कारा।......आपकी भाषा गम्भीर, सव्यंग, हास्यपूर्ण और साधारण-साहित्य आदि सभी प्रकार के भाव व्यक्त करने में सूक्ष्म थी।"

भारतेन्दु के समकालीन लेखकों में 'प्रेम-घन', प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिका दत्त व्यास, सुधाकर द्विवेदी, राधाकृष्ण दास और मध्यप्रदेश के जगमोहनसिंह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में इन सब लेखकों में 'सजीवता या जिन्दादिली का गुण खूब परिलक्षित होता है।' प्रेमघन कभी संस्कृत-बहुल और कभी उर्दू मिश्रित भाषा लिखते थे। प्रतापनारायण की भाषा में बैसवाड़ीपन अधिक आता था, राधा चरण गोस्वामी संस्कृत की ओर अधिक झुकते थे, यही हाल अम्बिकादत्त व्यास और सुधाकर द्विवेदी का भी था। राधाकृष्ण दास भारतेन्दु के समान ही मिली-जुली भाषा लिखने में अभ्यस्त थे। जगमोहनसिंह बड़ी मीठी भाषा लिखते थे। काव्य का माधुर्य उसमें आपूर रहता था पर हरिश्चन्द्र ऐसे थे जो भाषा के बेताज के शाह थे। उसके सीधे-सरल, शिष्ट अशिष्ट (लोक) सभी प्रकार के रूप प्रस्तुत करने में सक्षम थे। इसी लचीलेपन के कारण उनकी भाषा जनता में अधिक प्रचार पा सकी। शैली का रूप निर्धारित करने का कार्य हरिश्चन्द्र ने किया, और उनका बचा हुआ भाषा-परिमार्जन का कार्य उनके बाद आविर्भूत होने वाले आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के द्वारा सम्पन्न हुआ।

---

१२. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की देन

आधुनिक हिन्दी गद्य-निर्माताओं में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का महान स्थान है। उनके आविर्भाव ने हिन्दी में नवीन युग को जन्म दिया जो 'द्विवेदी-युग' के नाम से प्रसिद्ध है। उनके पूर्व बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी के लोक-स्वरूप की रूप-रेखा निर्धारित की थी, परन्तु उसके परिष्कार का काम शेष रह गया था, जो आचार्य द्विवेदी द्वारा संपन्न हुआ। हिन्दी की ग्राहिका-शक्ति को बढ़ाने के लिए उन्होंने संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू, अँग्रेजी आदि अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं समझी। उन्होंने इस संबंध में लिखा है, "जिस तरह शरीर के पोषण और उपचय के लिये बाहर के खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होना बंद हो जाता है वह उपवास-सी करती हुई किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव-सी जरूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों को ग्रहण कर लेने की शक्ति रखना ही सजीवता का लक्षण है और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव प्रयत्न करने पर भी परित्याग नहीं हो सकता। हमारी हिन्दी सजीव भाषा है। इसी से संपर्क के प्रभाव से उसने अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओं तक के शब्द ग्रहण कर लिए हैं और अब अँग्रेजी भाषा के शब्द भी ग्रहण करती जा रही है। इसे दोष नहीं, गुण ही समझना चाहिए; क्योंकि अपनी इस ग्राहिका शक्ति के प्रभाव से हिन्दी अपनी वृद्धि ही कर रही है। ज्यों-ज्यों उसका प्रचार बढ़ेगा त्यों-त्यों उसमें नये-नये शब्दों का आगमन होता जायगा। हमें केवल यह देखते रहना चाहिए कि इस सम्मिश्रण के कारण हमारी भाषा अपनी विशेषता तो नहीं खो रही है—बीच-बीच में अन्य भाषाओं के बेमेल शब्दों के योग से वह अपना रूप कहीं विकृत तो नहीं कर रही। बस।"

उपर्युक्त उद्देश्य को सम्मुख रख कर आचार्य ने हिन्दी में उस मिश्रित गद्य शैली का निर्माण किया जो अकृत्रिम, सहज और बोधगम्य होने से जनता की भाषा बन गई। हिन्दी के समाचार-पत्रों में इसी प्रकार के गद्य का प्रयोग होने लगा। सभा-मंचों पर भी इसी प्रकार की भाषा बोली जाने लगी क्योंकि इस शैली में सर्व-ग्राहकता होने के कारण भाव-प्रकाशन का ढंग चुटीला होता था—व्यंग की चुटकियाँ करारी होती थीं। प्रवाह में वार्तालाप-सा रस झरता था। बाबू श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "द्विवेदी जी की शैली में लघुता उसकी विभूति है। वाक्य पर वाक्य आते हैं और विचारों को पुष्ट करते हैं। जैसे इस प्रदेश की लखौरी ईंटें दृढ़ता में नामी हैं वैसे ही द्विवेदी जी के छोटे-छोटे वाक्य भी।" यद्यपि उनकी भाषा आम-फहम है तो भी संस्कृत का संस्कार होने के कारण उसमें ग्रामीण एकदेशज पद-प्रयोग नहीं पाया जाता।

यह सत्य है कि द्विवेदी जी की भाषा-शैली बहुत कुछ उनकी परिस्थिति की उपज है। शिक्षा-संस्थाओं में इतिहास, भूगोल विज्ञान, गणित, अँग्रेजी, उर्दू, संस्कृत आदि की अनिवार्य शिक्षा दी जाती थी। जो छात्र इस प्रकार की शिक्षा लेकर निकलते थे वे हिन्दी को पत्र-पत्रिकाओं में परिचयात्मक ज्ञान पाने को सदा उत्सुक रहते थे। अतः सरल भाषा में सामयिक प्रसंगों को प्रस्तुत करना अभीष्ट था। भारतेन्दु-काल में लेखक अपनी रुचि के विषयों को अपनी ही रुचि की भाषा में लिखा करते थे। 'प्रेमघन' राजनीतिक टिप्पणियाँ भी बड़ी अलंकृत काव्य भाषा से सजाते थे। जनसाधारण के लिए ऐसी शैली अनुपयुक्त और निरर्थक होती है। आचार्य यह बात जानते थे। इसीलिये वे गम्भीर से गम्भीर विषय को भी इतने सादे ढंग से लिखते थे कि मोटी अक्ल का पाठक भी उसे आसानी से समझ लेता था। यही कारण है कि डा० श्यामसुन्दर दास और कृष्णदास लिखते हैं कि "द्विवेदी जी की भाषा में कोई संगीत नहीं, केवल उच्चारण का ओज है जो भाषण-कला से उधार लिया गया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदी जी जो पुनरुक्तियाँ करते है वे कभी कभी खाली चली जाती हैं, असर नहीं करती हैं; परन्तु वे फिर आती हैं और असर करती हैं।" यहाँ हम 'द्विवेदी जी' की शैली के दो रूपों को प्रस्तुत करते हैं।

पहला रूप चलती हुई भाषा का है। 'कवि बनने के लिए सापेक्ष साधन' शीर्षक लेख में वे लिखते हैं—"आजकल हिन्दी के कवियों ने बड़ा जोर पकड़ा है। जिधर देखिए उधर कवि ही कवि। जहाँ देखिये वहाँ कविता ही कविता। कवि बनाने के कारखाने भी दिन-रात जारी हैं। कोई कहता है, हमारा काव्य-कल्पद्रुम पढ़ लेने से सैकड़ों कालिदास पैदा हो सकते हैं। कोई कहता है हमारा काव्य-भास्कर ही कवि बनने के लिए एकमात्र साधन है; उसकी एक झाँकी मनुष्य को कवित्व की प्राप्ति करा सक्ती है। कोई कहता है, हमारी सभा की दी हुई समस्याओं की पूर्त्तियाँ करने से अनेक व्यास और वाल्मीकि फिर जन्म ले सकते हैं। शायद इन्हीं लोगों के उद्योग का फल है जो हिन्दी में आजकल इतने कवियों का एक ही साथ प्रादुर्भाव हो गया है।" इन पंक्तियों में भाषा की दृष्टि से सरलता है, प्रचलित शब्दों का प्रयोग है, संस्कृत के तत्सम शब्दों का बिलकुल आग्रह नहीं है, छोटे-छोटे वाक्य हैं, प्रतिपादन की दृष्टि से व्याख्यान की झलक है, तीखा व्यंग्य है, थपेड़ है, लताड़ है।

शैली का दूसरा रूप वह है जब 'द्विवेदी जी' गम्भीर विषयों का निरूपण करने लगते हैं। उस समय भाषा अधिक संस्कृत-गर्भित हो जाती है। 'साहित्य की महत्ता' का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं, "ज्ञान-राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह रूपवती भिखारिन की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसम्पन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य पर ही अवलम्बित रहती है। जाति विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटना-चक्रों और राजनीतिक स्थितियों का प्रतिबिंब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रंथ-साहित्य में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता और असभ्यता का निर्णायक एक मात्र साहित्य है।"

इन पंक्तियों में संश्लिष्टता है। यद्यपि व्याख्यान-शैली का आभास आ

गया है तो भी 'मोटी अकल के पाठकों' के लिए सर्वथा ग्राह्य नहीं है। भाषा में संस्कृतपन आपूर है, विचारों में गूढ़ गुम्फन की भी कमी नहीं।

द्विवेदीजी ने अपनी विशिष्ट शैली के कारण हिन्दी के पाठकों की संख्या बढ़ाई और लेखकों की भी। सन् १९०४ में जब उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन अपने हाथ में लिया उस समय उसकी ग्राहक संख्या नगण्य थी, उन्होंने महीनों तक भिन्न-भिन्न नाम से भिन्न-भिन्न विषयों पर स्वयं लेख लिखे और अधिकारी व्यक्तियों को हिन्दी में लिखने के लिए प्रेरित और आमन्त्रित किया। लेखों का संशोधन करते-करते उन्होंने भाषा के दोषों का संकलन किया और 'भाषा और व्याकरण' नामक लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित किया जिसमें समय के लेखकों के भाषा-दोषों को उद्घाटित किया गया। इस लेख ने हिन्दी संसार में तहलका मचा दिया। द्विवेदी जी ने कहीं 'अनस्थिरता' शब्द का प्रयोग किया था। पं० बालमुकुन्द गुप्त ने उनके 'अनस्थिरता' शब्द पर 'भारत मित्र' में 'आत्माराम' के छद्म नाम से एक लेखमाला प्रकाशित की जिसमें उन पर खूब फब्तियाँ कसी गईं और जिसका उत्तर भी विनोदपूर्ण ढंग से सरस्वती में प्रकाशित हुआ। एक दूसरे मीर मुशी बालमुकुन्द ने बैसवारे की बोली में "हम पंचन के ढ़ाला मों" शीर्षक लेख में द्विवेदी जी पर चुभता हुआ कटाक्ष किया जिसके उत्तर में 'सरगौ नरक ठिकाना नाहिं' शीर्षक आल्हा द्विवेदी जी ने लिखा। पं० गोविन्द-नारायण मिश्र ने भी द्विवेदी जी के समर्थन में 'आत्माराम की टें-टें' नामक लेखमाला में श्रीबालमुकुन्द गुप्त के लेखों का करारा प्रतिवाद किया। पण्डितों के इस वाद-विवाद से हिन्दी पाठकों को परिमार्जित गद्य लिखने में बड़ी सहायता मिली। द्विवेदी जी साहित्यिक विवाद में भी प्रायः क्षुब्ध नहीं होते थे और मर्यादा का पालन करते थे। व्यक्तिनिरपेक्ष भाव से साहित्य-समीक्षा करना उन्होंने अपना धर्म समझ लिया था। यह सच है कि उनकी समीक्षा समीक्ष्य-कृति के दोषों पर ही अधिक प्रकाश डालती थी और विशेष कर भाषा के। इसीलिये लोग 'सरस्वती' में 'महावीरी गदा' के प्रहार से बचने की चेष्टा किया करते थे। जिस समय उनके हाथ में लेखनी होती थी वे मित्र-अमित्र का बिलकुल ध्यान नहीं रखते थे और अपने विश्वासों के अनुसार आलोचना किया करते थे। यदि किस

पुस्तक पर सार्वजनिक हित की दृष्टि से समीक्षा करना अभीष्ट होता और वह पुस्तक उन्हें लेखक या प्रकाशक द्वारा प्राप्त न होती तो वे उसे स्वयं खरीद कर उसकी आलोचना करते। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा और बाबू श्याम-सुन्दर दास से उनकी पटरी नहीं बैठती थी। सभा की खोज-रिपोर्ट अँगरेजी में निकली जो अँगरेजी पत्रों को समालोचनार्थ भेजी गई और 'सरस्वती' को नहीं प्राप्त हुई। आपने खरीद कर उसकी मार्मिक समीक्षा की और उसके दोषों का भली-भाँति उद्घाटन किया। बिलासपुर से प्रकाशित 'छत्तीसगढ़ मित्र' में आपने पं० श्रीधर पाठक की काव्य कृतियों की कठोर भाव से आलोचना की। संस्कृत के कवियों की साधुवादात्मक समीक्षा भी आपने लिखी तथा संस्कृत साहित्य में प्रचलित कालिदास के भाषा तथा व्याकरण के व्यतिक्रमों को सकलित कर 'कालिदास की निरंकुशता' नामक पुस्तक प्रस्तुत की। हिन्दी पाठक को इसमें स्वतंत्र समा-लोचना का रूप भले ही न दिखाई पड़े पर संस्कृत साहित्य की गतिविधि से उसका परिचय तो हो ही जाता है।

समालोचक के रूप में द्विवेदी जी ने नूतन शैली की उद्भावना नहीं की। पूर्व और पश्चिम के आलोचनाशास्त्रों से समन्वित कोई आलोचना-सिद्धांत-ग्रंथ नहीं लिखा पर सामयिक पुस्तकों के भाषा-दोषों को उभार-उभार कर बतलाने का यह परिणाम हुआ कि हिन्दी लेखक परिष्कृत भाषा लिखने की ओर अधिक-से-अधिक प्रवृत्त हुए। भाषा की स्थिरता पर सजग प्रहरी के समान वे बराबर दृष्टि जमाये रहते थे। वे 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को मानने वालों में से नहीं थे। उन्होंने एक जगह लिखा है—"मनोरंजन मात्र के लिए प्रस्तुत किये गये साहित्य में भी चरित्र-गठन को हानि नहीं पहुँचनी चाहिए!" आलस्य, अनुद्योग और विलासिता को उद्बोधित करने वाला साहित्य उन्हें बिलकुल नहीं रुचता था। इसीलिये हिन्दी में वे सात्त्विक साहित्यिक आदर्शवाद के प्रतिष्ठा-पक माने जाते हैं जिसका पल्लवित रूप प्रेमचन्द्र में बहुत स्पष्टता से दिखाई देता है। आदर्शवाद के आग्रह के कारण उनके युग का साहित्य उपदेशमूलक अधिक हो गया है जिसका प्रतिवर्तन छायावाद-युग में दिखाई देता है! द्विवेदी जी की कृतियों में रूक्षता का कारण उनके प्रारम्भिक जीवन की प्रतिक्रिया है।

उत्तर प्रदेश के दौलतपुर नामक ग्राम में निर्धन गृह में उनका जन्म हुआ, शिक्षा की कोई ठीक व्यवस्था नहीं हो सकी। गांव में उर्दू फारसी पढ़ने के बाद अंगरेजी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए घर से १५ कोस दूर रायबरेली प्रति सप्ताह पैदल जाते, अपने हाथ से 'रोटी' बनाते और कठिनता से फीस के कुछ आने जमाकर पाते थे। पढ़ाई-लिखाई जब अधिक न चल सकी तो वे बम्बई चले गये जहाँ मराठी और गुजराती भाषा के साथ साथ उन्होंने कुछ अँगरेजी भी सीख ली। वहीं जी० आई० पी० रेलवे में वे तारबाबू बन गये और मध्यप्रदेश के नागपुर, हरदा, खँडवा, हुशंगाबाद और इटारसी में बहुत समय तक रहे। झाँसी में नये प्रकार का 'लाइन क्लियर' आविष्कृत कर उन्होंने बड़ी ख्याति कमायी और उच्च पद पर प्रतिष्ठित हुए। इसी समय बंगला का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। एक बार अधिकारी से अपमानित होने के बाद ही उन्होंने रेलवे की नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और आजन्म हिन्दी-सेवा का व्रत ले लिया। बचपन से संघर्षमय जीवन व्यतीत करने के कारण उनकी लेखन शैली में यदि रुक्षता, तीखापन और झुँझलाहट तथा व्यंग्य पाया जाता है तो क्या आश्चर्य है ? लेखक का जीवन उनकी कृतियों में प्रतिबिम्बित होता ही है।

द्विवेदी जी ने सामयिक विषयों पर टिप्पणियां लिखने के अतिरिक्त 'कुमार सम्भव सार', 'रघुवंश', 'हिन्दी महाभारत', 'बेकन विचार रत्नावली', 'संसार की ज्ञेय-अज्ञेय मीमांसाएँ', 'स्वाधीनता' और 'सम्पत्ति शास्त्र' नामक अनुवाद पुस्तकें तथा 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति', 'कालिदास की निरंकुशता', 'मिश्र-बन्धु का हिन्दी नवरत्न' और तिलक का 'गीता-भाष्य' शीर्षक निबन्ध प्रस्तुत किये। परन्तु इनमें ऐसी एक भी कृति नहीं है जिनमें उनका अपनत्व प्रतिभासित हुआ हो। उनकी सारी सामग्री उधार ली हुई है। फिर भी वे हिन्दी साहित्य के अमर आचार्य हैं, युग-द्रष्टा और स्रष्टा हैं। तो क्या उन्होंने हिन्दी की गद्य-शैली का आविष्कार किया था ? नहीं यह भी नहीं ! यह कार्य हरिश्चन्द्र के द्वारा प्रारम्भ हो गया था। उन्होंने हरिश्चन्द्र की गद्य-शैली को ही समयानुकूल परिमार्जित और पुष्ट किया। खड़ी बोली के

क्षेत्र में उन्होंने हरिश्चन्द्र से जो अधिक कार्य किया, वह है उसका पद्य में प्रवेश। हरिश्चन्द्र खड़ीबोली-गद्य की रूपरेखा ही सुझा सके, खड़ी बोली में पद्य भी लिखा जाना चाहिए, यह विचार उनकी कोमलता उपासिका वृत्ति नहीं सहन कर सकी। हरिश्चन्द्र ब्रजभाषा की माधुरी पर मुग्ध थे। वे खड़ी बोली को रुक्ष भाषा समझते थे। खड़ी बोली में पद्य की देन द्विवेदी जी की अमर हिन्दी सेवा है। उनके ही प्रयत्न से खड़ी बोली में कविता लिखने की परम्परा चल पड़ी। आज 'प्रसाद', 'निराला', 'पंत' 'महादेवी', 'दिनकर' आदि की खड़ी बोली में जो ओज, लोच और माधुर्य है, वह द्विवेदी के स्वप्न का सत्य-रूप है। यद्यपि उनमें काव्य-प्रतिभा न थी तो भी मार्गदर्शन की दृष्टि से उन्होंने खड़ी बोली में कविता लिखी और ज्यों ही कवियों की रुझान खड़ी बोली की ओर हुई, उन्होंने कविता के क्षेत्र से अपने को बिलकुल हटा लिया।

हिन्दी में आज चारों ओर गत्यावरोध का स्वर सुन पड़ता है, साहित्यिक क्षेत्र में अराजकता-सी छाई हुई है। साहित्यकारों पर अपने निस्पृह आदर्श चरित्र के द्वारा नियन्त्रण करने वाले आचार्य की खोज हो रही है। आज से ५० वर्ष पूर्व (हरिश्चन्द्र के अवसान के बाद) हिन्दी साहित्य में इसी प्रकारकी अस्तव्यस्तता छाई हुई थी और उसे दूर करने के लिए प्रादुर्भूत हुए थे 'आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी'। उनके बाद हम आचार्य शुक्ल को हिन्दी जगत पर शासन करते देखते हैं।

---

१३. निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने साहित्य-जीवन में कविता, कहानी, समालोचना और निबन्ध की रचना की है। कविता उनकी बौद्धिकता से बोझिल हो गई और कहानी साहित्य के इतिहास की एक घटना मात्र रह गई परन्तु उनका समालोचना तथा निबन्ध का कृतित्व उन्हें सचमुच अमर बनाने का कारण हुआ है। यहाँ उनके निबन्धकार-रूप की चर्चा की जा रही है।

उनके निबन्धों के संग्रह चिंतामणि भाग १ और चिंतामणि भाग २ के नाम से प्रकाश में आ गये हैं। 'विचार-वीथी' चिंतामणि भाग १ का ही पूर्वरूप है। चिंतामणि भाग १ में मनोविकार, साहित्य-सिद्धांत और साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी विषयों के सत्रह निबन्ध संगृहीत हैं। चिंतामणि भाग २ में तीन विस्तृत निबन्ध हैं, जिनके शीर्षक हैं—काव्य में प्राकृतिक दृश्य, काव्य में रहस्यवाद और काव्य में अभिव्यंजनावाद।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके निबन्धों में भी उनकी प्रखर आलोचक-दृष्टि कहीं ओझल नहीं होने पाई है। "ऐसे प्रकृत निबन्ध जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्-वैचित्र्य तथा उनके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिन्दी में अभी कम देखने में आ रहे हैं।" आचार्य की यह उक्ति उनके लिये अपवाद कही जा सकती है।

चिंतामणि भाग १ के निबन्धों का विभाजन ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है। सबसे पहिले हम मनोभाव सम्बन्धी निबन्धों पर विचार करेंगे। इनमें भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धाभक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा ईर्ष्या, भय तथा क्रोध का समावेश है।

मनोविकारों पर तर्कमय चिंतन के साथ हिन्दी में प्रथम बार ये निबन्ध लिखे गये हैं। सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजी में 'बेकन' ने मनोविकारों पर लघु निबन्धों के रूप में अवश्य चिंतन किया है, पर जितनी पूर्ण विवेचना शुक्लजी

के निबन्धों में पाई जाती है, उतनी उनमें कहाँ है? ये निबन्ध शुक्ल जी की साहित्य को निश्चय ही अनुपम देन हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनमें दार्शनिक चिंतन का बाहुल्य होने पर भी दार्शनिक की एकान्त शुष्कता नहीं है। विषय को स्पष्ट करते समय लेखक यत्र-तत्र व्यंग्य का कभी तीखा और कभी मीठा पुट देता जाता है जिससे 'श्रम का परिहार होता रहता है।' कहीं-कहीं भावना का उन्मेष भी प्रकट हो जाता है जिसमें गंभीर लेखक के हृदय की हरियाली (काव्य-भूमि) सरस उठती है। इस प्रकार के भावोन्मेष का आभास प्रथम निबन्ध में ही मिल जाता है। मनोविकारों को रचना किन मानसिक प्रक्रियाओं का परिणाम होती है, उनका क्या उपयोग होता है, आदि की विवेचना करते-करते लेखक सहसा काव्य-योग की साधना के महत्त्व में विभोर हो कवि ठाकुर के साथ गा उठता है—

"विधि के बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ,
खेलत फिरत तिन्हें, खेलन फिरन देव।"

अतएव भाव या मनोविकार-विवेचन का यह भावुकतापूर्ण अनपेक्षित अन्त पाठक के मन पर विशेष झटका नहीं दे पाता और उससे यह बात छिपी नहीं रह पाती कि लेखक विषय-विवेचन तक ही अपने को सीमित नहीं रखता, उपदेशक की भाषा भी बोलने लगता है—अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता भी जाता है। श्रद्धा और भक्ति, लज्जा और ग्लानि तथा लोभ औ प्रीति के अन्तर के स्पष्टीकरण में लेखक ने मानव-मन तथा समाज-मनोवृत्ति के अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। व्यष्टि स्वयं परिस्थितिवश क्या चिंतन कर सकता है और समष्टि रूप में किस प्रकार आचरण करता है, इन प्रश्नों पर लेखक ने सचमुच बहुत बारीकी से विचार किया है, अपने अनुभवों को बेकन के समान संश्लिष्ट रूप (सूत्र) में व्यक्त करने की उसमें अपूर्व क्षमता है। 'वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है', 'ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है', 'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है', 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण', 'करुणा अपना बीज अपने आलम्बन या पात्र में नहीं फेंकती', आदि वाक्य इसके उदाहरण हैं।

प्रसंगानुसार वह अपनी रुचि-अरुचि को भी उद्घाटित करता जाता है। श्रद्धा-भक्ति पर विचार करते समय उसने संगीत-श्रद्धालुओं पर निर्दय कशाघात किया है। वह लिखता है—'संगीत के पेंच-पांच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिये आठ अँगुल मुँह फैलाता है और 'आ' 'आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है।—दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहनेवाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है। जो संगीत नाद की मधुर गति द्वारा मन में माधुर्य का संचार करने के लिए था वह इन पक्के लोगों के हाथ में पड़कर केवल स्वर-ग्राम की लम्बी-चौड़ी कवायद हो गया। श्रद्धालुओं के अन्तःकरण की मार्मिकता इतनी स्तब्ध हो गई कि एक खर-स्वान के गले से भी इस लम्बी कवायद को ठीक उतरते देख उनके मुँह से 'वाह-वाह', 'ओहो निकलने लगी।' प्रतीत होता है संगीत-कला के माधुर्य-रस का लेखक पर कभी प्रभाव नहीं पड़ा। अन्यथा वह संगीतज्ञ के स्वर को 'खर-स्वान'-कोटि में रखने की औरंगजेबी अनुदारता प्रदर्शित न करता। उसकी यह अनुदारता व्यंग्य मात्र न रहकर क्रोध की सीमा छू गई है। मनोविकारों की परिभाषा सूत्ररूप में देकर लेखक पहले उसकी व्याख्या करता है और ऐसा करते समय अपने अनुभवों का भी सहारा लेता है और अन्त में निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। (सूत्र, व्याख्या और निष्कर्ष-संक्षेप में यही उसकी निबन्ध-लेखन-शैली है।) व्याख्या करते समय जहाँ वह अपने अनुभवों को उल्लास या झॅंझलाहट के साथ कहता जाता है, वहाँ विश्लेषण के बुद्धि-पथ पर हृदय का क्षणिक विश्राम-सा जान पड़ता है और लेखक का व्यक्तित्व उभर उठता है।

इस (चिंतामणि भाग १) संग्रह के साहित्य-सिद्धांत-सम्बन्धी निबन्धों में कविता क्या है ?, काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद तथा रसात्मक बोध के विविध रूप आते हैं। ये चारों निबन्ध काव्य की पूर्ण विवेचना करते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि लेखक के सभी विचारों से पाठक सर्वथा सहमत हो और वह होता भी नहीं है। 'कविता क्या है ?' में सौंदर्य को परिभाषा करते समय लेखक लिखता है—'सुंदर वस्तु से पृथक् कोई पदार्थ नहीं है।' "सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं, मन के भीतर की वस्तु

है, यूरोपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी जाती है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है।" परंतु यूरोपीय कला-समीक्षक भी इस प्रश्न पर एकमत कहाँ है? कोई सौंदर्य को वस्तुगत (objective) और कोई आत्मगत (subjective) कहते हैं। (देखिए The Theory of Beauty by E. F. Canitt) सौंदर्य को वस्तुगत मानने वाले 'रीड' जैसे चिंतक भी स्वीकार करते हैं,—"हम नहीं जानते, जिसे हम सुंदर कहते हैं, वह क्या चीज है। हम तो उसका अपने पर पड़ने वाला प्रभाव ही अनुभव कर पाते हैं।" कविता के सम्बन्ध में सौंदर्य आत्मगत ही हो सकता है। पाठक की मनोवस्था कब किस काव्य के सौंदर्य से अभिभूत हो जायगी, कहा नहीं जा सकता। लेखक ने धर्म के 'शुभ' या 'मंगल' को कवि का 'सुंदरम्' माना है और यह उसके विश्वास के अनुरूप है। वह काव्य का लक्ष्य ही लोक-कल्याण मानता है। 'कला-कला के लिये' नारे से उसे अत्यन्त अरुचि है। कविता में मूर्तरूप विधान का वह पक्षपाती है। क्योंकि उससे पाठक का हृदय प्रभावित होता है। रसात्मक बोध के विविध रूप में लेखक ने केशवदास की शुष्कता पर अप्रस्तुत प्रहार किया है क्योंकि उन्होंने एक जगह लिखा है—

"देखै मुख भावै, अनदेखइ कमलचंद
ताते मुख मुखै, सखी! कमलौ न चंद री।"

केशवदास ने कमल और चंद की इसलिये निंदा की कि उन्हें मुख के सौंदर्य का उत्कर्ष प्रतिष्ठित करना था। मुख के सामने कमल और चंद की तुच्छता दिखाना था। इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि केशवदास कमल और चंद्र को प्रत्यक्ष देखने में कुछ भी आनन्द नहीं लेते थे। लेखक ने केशव को हृदय-हीन सिद्ध करने के लिए उक्त उदाहरण को कई स्थलों पर उद्धृत किया है और उन पर प्रकृति के प्रति निरादर का आरोप मढ़ा है। लेखक अपने विश्वास और अपनी रुचि-अरुचि को जहाँ मौका पाता है आग्रह के साथ पाठकों पर आरोपित करता है। साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद में व्यक्ति वैचित्र्यवाद को काव्य के रसबोध में उचित ही बाधक बताया गया है। व्यक्तिवाद यदि पूर्ण रूप से स्वीकार किया जाय, तो कविता लिखना सचमुच व्यर्थ है। पर

प्रश्न यह है कि क्या साहित्य में पूर्ण रूप से व्यक्तिवाद की रचना लिखी जाती है या लिखी जा सकती है। परन्तु यहाँ लेखक यही मानकर चला है कि व्यक्तिवाद पूर्ण रूप से साहित्य में उतर रहा है। यह तो सर्वमान्य सिद्धांत है कि काव्य में व्यक्ति का सुख-दुख व्यक्ति का ही न रह कर समष्टि का बन जाता है और तभी साहित्य व्यापक रूप धारण करता और स्थायित्व प्राप्त करता है। व्यक्ति वैचित्र्य का प्रदर्शन व्यापक भावना नहीं बन सकती। इसलिये वह क्षणभंगुर रहता है। लेखक का यह निष्कर्ष विवादास्पद नहीं है कि 'भारतीय काव्य दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर रही है।' साहित्य में वादों का जमघट लेखक को प्रिय नहीं है। पर वादों का फैशन योरप में ही चलता है, लेखक की यह धारणा सर्वथा ठीक नहीं है। हमारे प्राचीन साहित्य में भी 'वादियों' की कमी नहीं है। रसवादी, वक्रोक्तिवादी, अलंकारवादी, रीतिवादी आदि आचार्य संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध ही हैं। हाँ, साहित्य में उच्छृंखलता, वक्रता, असम्बद्धता का प्रदर्शन सचमुच श्लाघ्य नहीं है। लेखक ने इनके प्रवर्तकों पर निर्दय प्रहार कर साहित्य की मंगल-कामना ही की है।

चिंतामणि भाग १ के जो निबन्ध साहित्य-समीक्षा के अन्तर्गत आते हैं, उनके शीर्षक हैं — भारतेन्दुहरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्तिमार्ग, और मानस की धर्मभूमि। भारतेन्दुहरिश्चन्द्र की विशेषता एक वाक्य में ही लेखक ने प्रस्तुत कर दी है—"प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।" प्रकृति-वर्णन को आलम्बन के रूप में देखना लेखक को प्रिय है और यह बात बाबू हरिश्चन्द्र में नहीं मिलती। अतः उनके प्रकृति-वर्णन पर उसका असंतुष्ट रहना स्वाभाविक है। संक्षेप में हरिश्चन्द्र के साहित्य की मार्मिक समीक्षा कर दी गई है। तुलसी का भक्तिमार्ग क्या है, इसको भी संक्षेप में समझाया गया है। भक्ति का मूलतत्त्व महत्त्व की अनुभूति है और यह तुलसी में प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। भक्ति का आनंद ही तुलसी के लिए सब कुछ रहा है। वे अपने राम के शक्ति-सौंदर्य-शील के अनन्त उपासक रहे हैं। उनका यह भक्ति या अनुभूति-मार्ग लोक-कल्याणकारी सिद्ध हुआ है। मानस की धर्मभूमि भी लघु निबन्ध है। रामचरित मानस में धर्म की ऊँची-नीची कई भूमियाँ लक्षित

होती हैं जैसे गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्ण धर्म। इसी को इस निबन्ध में स्पष्ट किया गया है।

चिंतामणि भाग २ में काव्य में प्राकृतिक दृश्य के वर्णन में आचार्य अतिशयोक्ति का समर्थन नहीं करते, उसे मजाक मानते हैं। लिखते हैं—'स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्‌भुत अनूठी चमत्कारपूर्ण·····वस्तुओं पर मुग्ध होने में नहीं है। 'जितने आदमी भेड़ाघाट, गुलबर्ग आदि देखने जाते हैं वे सब प्रकृति के सच्चे उपासक नहीं होते। अधिकांश केवल तमाशबीन होते हैं। केवल असाधारणत्व के साक्षात्कार की यह रुचि स्थूल और भद्दी है और हृदय के गहरे तत्त्वों से सम्बन्ध नहीं रखती। जिस रुचि से प्रेरित होकर लोग आतिशबाजी जुलुस वगैरह देखने दौड़ते हैं, यह वही रुचि है। काव्य में इसी रुचि के कारण बहुत से लोग अतिशयोक्तिपूर्ण अशक्त वाक्यों में ही काव्यत्व समझने लगे।" प्रकृति के सामान्य दृश्यों के प्रति भी रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने वाले यूरोप और भारतीय संस्कृत कवियों की आपने प्रशंसा की है। यदि कवि की संवेदना भव्य और सामान्य दोनों दृश्यों के प्रति जाग सकती है तो यह उसकी सफलता एवं पूर्णता का द्योतक है और उसकी प्रशंसा अप्रस्तुत नहीं। परन्तु यदि किसी का हृदय भव्यता का ही उपासक है और उसमें वह खूब रमता भी है तो इसके लिये आचार्य को अकरुण कोप प्रदर्शित करने की आवश्यकता क्यों पड़ी, यह समझ में नहीं आता। हम उसे तमाशबीन तभी कह सकते हैं, जब वह भव्य दृश्यों में बिना रमे ही उनका उड़ता हुआ वर्णन कर संतुष्ट हो जाता है। हम समस्त कवियों की एक ही रुचि और प्रकृति-निरीक्षण की एक ही दृष्टि की अपेक्षा नहीं रख सकते। हमें कविता को अपनी रुचि और अरुचि की कसौटी पर कसने के स्थान पर निरपेक्ष भाव से परखना चाहिए। आचार्य अपनी रुचि-अरुचि के कारण ही प्रबन्ध-काव्य को गीति काव्य से अधिक महत्त्व देते हैं और इसलिये सूर की अपेक्षा तुलसी के कवित्व को गौरव प्रदान करते हैं आचार्य ने 'चमत्कारपूर्ण अनुरंजन' को साहित्य के अन्तर्गत माना है।[1]

---

[1] देखिये काव्य में अभिव्यंजनावाद पृष्ठ १४६

तब प्रकृति के भव्य दृश्य-वर्णन से यदि चमत्कारपूर्ण अनुरंजन होता है, तो हम उसे 'मज़ाक' कैसे कह सकते हैं ? क्या कवियों को प्रकृति के सामान्य दृश्यों की ओर आकर्षित करने के लिए भव्य-द्रष्टाओं की तीव्र भर्त्सना की गई है। यह निबन्ध सबसे पहिले 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ था जिसने हिंदी-विद्वानों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया था।

संग्रह का दूसरा निबन्ध 'काव्य में रहस्यवाद' है, जिसमें छायावाद युग की नकली रहस्यवादिनी कविताओं पर कठोर प्रहार किया गया है। रहस्यवाद की शास्त्रीय परिभाषा पर जब आधुनिक रहस्यवादी रचनाएँ तौली जाती है, तब वे कहीं भी नहीं ठहरतीं, ऐसा आचार्य का मत है क्योंकि आधुनिक रहस्यवादियों में ब्रह्म को 'व्यक्तसत्ता' की अनुभूति का अभाव है। इसी से वे कहते हैं, 'जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं', जिसकी अनुभूति से वास्तव में कभी हमारे हृदय में स्पंदन नहीं हुआ उसकी व्यंजना का आडंबर रचकर दूसरों का समय नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं। जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्य-क्षेत्र से निकाल कर मतवालों के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिये।" "किसी अगोचर या अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाशगंगा में तैरने की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलाप-सा ताण्डव करने, या मूँदे नयन पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही कविता कहना कहाँ तक उचित है ? चारों ओर से बेदखल होकर छोटे-छोटे कनकौओं पर भला कविता कब तक टिक सकती है। असीम और अनंत की भावना के लिए अज्ञात या अव्यक्त की ओर झूठे इशारे करने की जरूरत नहीं। व्यक्त पक्ष में भी वही असीमता और वही अनंतता है।" आचार्य तुलसी के समान ही अलख-वादियों पर रोष प्रकट करते हैं। तुलसी ने भी उन्हें उपदेश दिया था—"राम नाम भजु नीच।" आचार्य ब्रह्म के सगुण रूप को ही काव्य का आलम्बन स्वीकार करते हैं। निर्गुण के प्रति, उनके मत से, कवि की जिज्ञासा हो सकती है, लालसा या प्रेम नहीं। उन्होंने मनोमय कोश (ज्ञानेन्द्रियाँ और मन जिनसे सांसारिक विषयों की प्रतीति होती है।) को ही प्रकृत काव्य-भूमि माना है। इसी से

उन्होंने गोचर जगत् के परे अभौतिक, अव्यक्त और अज्ञात-क्षेत्र का रहस्य खोजनेवाली अभिव्यक्ति को कविता ही नहीं माना है। मनोविज्ञान और साहित्य की दृष्टि से 'अज्ञात' की लालसा उनके मत से कोई 'भाव' ही नहीं है। आधुनिक हिंदी कविता में उन्होंने विलायती झाँकी देखी है। क्योंकि उसी में अव्यक्त और अज्ञात के प्रति अधिक लालसा' पाई जाती है। पर क्या 'अज्ञात' की जिज्ञासा दर्शन का विषय होते हुए— ज्ञान का विषय होते हुए— काव्य की झलक (रति भावना) नहीं बन सकती ? गंभीरता से विचार करने पर 'अज्ञात' कविता की भूमि पर निर्गुण न रह कर किसी का 'प्रियतम' और किसी की 'प्रेयसी' आदि अवश्य बन जाता है। यदि निर्गुण में सगुण का आरोप देखकर ही आचार्य अव्यक्त को काव्य की भूमि नहीं मानते तो उनका तर्क समझ में आ सकता है। पर निर्गुण के प्रति झलक को प्रदर्शित करना बिलकुल 'मजाक' है, यह व्यंग्य सहसा ग्रहण नहीं हो पाता। हम यह मानते हैं कि इस युग की रहस्यवादी कविताओं में आत्मानुभूति नहीं के बराबर है। बुद्धि-बिलास की प्रमुखता है। तभी हम उन्हें अपने भीतर उतार नहीं पाते। मध्य-युगीन रहस्यवादी कविताएँ अनुभूति-प्रसूत थीं। इसी से वे हमारे जीवन में रह रह कर प्रतिध्वनित होती रहती हैं और हम अपने को उनमें खो देते हैं। जहाँ 'वाद' को सम्मुख रख कर रची हुई कविताओं को आचार्य 'मज़ाक' से सम्बोधित करते हैं, वहाँ किसी को व्यंग्य से पीड़ित होने की आवश्यकता नहीं है।

अन्तिम निबन्ध में काव्य में अभिव्यंजनावाद की विशेष चर्चा है। यह निबन्ध चौबीसवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन इन्दौर की साहित्य-परिषद के सभापति-पद से दिया गया भाषण है जिसमें काव्य के अतिरिक्त नाटक, उपन्यास, निबन्ध और साहित्यालोचन पर प्रकाश डाला गया है। आचार्य ने कल्पना-प्रधान नाटकों को शुद्ध नाटक की कोटि में नहीं माना है। ऐसी स्थिति में प्रतीकात्मक नाटकों की रचना जिनमें कल्पना की प्रधानता होती है, व्यर्थ ही है। पर नाटक केवल दृष्य ही नहीं, श्रव्य भी होते हैं। प्रत्येक सम्पन्न साहित्य में इन दोनों कोटियों के नाटकों का मान है। समाज में सभी कोटि के पाठक होते हैं।

साहित्य उन सबकी तुष्टि करना चाहता है। इसलिये वह कई रूपों में—कई शैलियों में—अपने को व्यक्त करता रहता है। अतः कल्पना की उड़ान दिखाने वाले नाटकों को नाटक की कोटि से कैसे वहिष्कृत किया जा सकता है? इस लेख में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की भी खूब खबर ली गई है और 'कला कला के लिये', सिद्धांत की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं क्योंकि काव्य के साथ 'कला' शब्द के प्रयोग ने ही साहित्य-क्षेत्र में बहुत-सा 'गड़बड़झाला' किया है। पर कला जहाँ नीति-अनीति की उपेक्षा करती है, वहीं वह आक्षेपार्ह हो जाती है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को सब कुछ स्वीकार करने वालों के साथ वे सहमत नहीं होते। गद्य-काव्य का विकास भी उन्हें अभीष्ट नहीं है। क्योंकि, उनका मत है, इससे प्रकृत गद्य की गति कुंठित हो जायगी। आचार्य की यह आशंका हमें निराधार जान पड़ती है। गद्य का काव्यमय होना शैली विशेष का निदर्शन है। सभी गद्य-लेखकों की प्रवृत्ति काव्यात्मक नहीं होती। इसलिये गद्य की एक ही शैली विकसित होकर नहीं रह सकेगी। गद्यकाव्य को बंगला या गीतांजलि की देन भी हम क्यों मानें? गीतांजलि के प्रकाशन के पूर्व हिंदी में गद्य-काव्य के उदाहरण मिलते हैं। आज हिंदी का गद्य; रेखाचित्र, रिपोर्ताज, आदि विभिन्न रूपों में पल्लवित हो रहा है, जिनमें काव्य की आत्मा भी झाँकती रहती है। हमें हिंदी गद्य का भविष्य, उसमें काव्य-प्रवेश के रहते, उज्वल ही दीख पड़ता है।

आचार्य ने अपने निबन्धों में हिन्दी काव्य में छायावाद, रहस्यवाद तथा स्वच्छन्द छंदवाद को अंग्रेजी और बँगला की जूठन जैसी बात कही है। परन्तु हम उसे सर्वथा बँगला से आयी हुई चीज़ नहीं समझते। उसे युग की माँग का परिणाम मानते हैं। यह तो सभी जानते हैं कि द्विवेदी-युग की इति वृत्तात्मकता कवि के कोमल मन पर भारी हो रही थी; वह रह रह कर रस की खोज में अपने भीतर झाँक उठता था। गीतांजलि के प्रकाशन के पूर्व माखनलाल, प्रसाद, मुकुटधर आदि में यह प्रवृत्ति परिलक्षित हुई। प्रकृति संतुलन करती रहती है, चाहे वह मानव-मन से सम्बन्ध रखती हो, चाहे बाह्य सृष्टि से। द्विवेदी-युग की शुष्कता के अतिरेक को संतुलन की आवश्यकता थी जिसे छायावाद-युग की

सरसता ने पूरा किया—ठीक उसी तरह जिस तरह छायावाद के रसातिरेक को प्रगतिवाद को वस्तुवादिता ने। हिन्दी-साहित्य में रोमेंटिक और रहस्यवादी प्रवृत्ति जब चल पड़ी तो कवियों ने अंग्रेजी, बंगला आदि भाषाओं के कवियों का अध्ययन किया और उनसे प्रभावित भी हुए। छायावाद की स्वच्छंद छंदता भो युग का परिणाम है। द्विवेदी-युग के आलोचक छंद-दोष आदि को बेहद तूल दिया करते थे। कवि शास्त्रों के बन्धनों से छुटकारा चाहता था। साहित्य का छायावाद-युग राजनीति के गांधीयुग के साथ प्रगति कर रहा था। देश के वातावरण में स्वतंत्रता की छुटपटाहट छाई हुई थी। कवि का मन उसो वातारण में साँस ले रहा था। अत; उसकी प्रगतिशीलता ने छंदों के बंधन से मुक्त होने की यदि उत्सुकता व्यक्त की, तो इसे बाहरो साहित्य का प्रभाव कहना कहाँ तक उचित होगा ?

चिंतामणि के दोनों भागों के निबन्धों पर विहंगम दृष्टि डालने के उपरान्त हम आचार्य की निबन्ध लेखन-प्रणाली की विशेषता सहज ही हृदयंगम कर सकते हैं। यद्यपि उन्होंने काव्यात्मकता को गद्य के विकास में बाधक कहा है, तो भी वे स्वयं अपने निबन्धों में काव्यत्व का बहिष्कार नहीं कर सके। जगह जगह उनके हृदय की सरसता कलनाद करतो हुई पाई जातो है—मनोविकारों पर विवेचन करते समय भी उनका यह गुण लुप्त नहीं रह सका। निबन्धों में विषय का विवेचन करते समय निबन्धकार का व्यक्तित्व पृथक् नहीं रह सका। अतः हम कह सकते हैं कि उनके निबन्धों में विषय-प्रधानता के साथ साथ व्यक्तित्व का भी प्रतिबिम्ब है। हम ऊपर लिख चुके है कि आचार्य ने अपने विश्वास, अपनी धारणाओं और अपने व्यक्तिगत अनुभवों को अत्यन्त आग्रह के साथ पाठकों के मन पर अंकित करने का प्रयत्न किया है। पर इसका आशय यह नहीं कि उसमें उनका अहंभाव सर्वोपरि हो गया है। बात यह है कि वे ईमानदार साहित्यिक के नाते प्रसंगवश अपनी बात कहने से कहीं नहीं झिझके और ऐसा करते समय हास्य, व्यंग्य, विनोद की भूमिका में उन्होंने बेधड़क प्रवेश किया है। "रुपये के रूप, रस, गन्ध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते हैं, उस वेग से भौंरे कमल पर

और कौए मांस पर भी न टूटते होंगे।" "लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इंद्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है।" आदि इसके उदाहरण हैं।

निबन्धों की भाषा-विषय के अनुरूप सरल और चक्करदार है। विदेशी शब्दों को तत्सम रूप में अपनाया गया है—व्यंग्य के प्रसंगों पर यह प्रवृत्ति अधिक देखी गई है। संस्कृत के दर्शन, साहित्यशास्त्र आदि तथा अंग्रेजी के साहित्यालोचन-ग्रंथों से शब्द लेकर आचार्य ने हिन्दी-गद्य को पुष्ट किया है। गुम्फित वाक्य रचना के कारण उनके निबन्ध समास-शैली के कहे जाते हैं। परन्तु यह शैली सभी जगह प्रयुक्त नहीं हुई है। निबन्ध लिखते समय पहिले वे सूत्र रूप में एक बात कहते हैं—एक विचार रखते हैं—फिर व्यास की तरह उसको व्याख्या करते हैं और अन्त में उसका निष्कर्ष निकाल कर दूसरे विचार को पुरस्सर कहते हैं। जहाँ विचार की व्याख्या होती है, वहाँ स्पष्टतः व्यास शैली के दर्शन होते हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि आचार्य के निबन्धों में समास और व्यास दोनों प्रकार की शैलियों का सुन्दर समावेश है। उनमें एक विशेष प्रकार की भव्यता है, जो हिन्दी गद्य की भाव-व्यंजकता की गरिमा प्रतिष्ठित करती है। उनके समान परिमार्जित, ललित-गठित भाषा में तर्क सहित गंभीर विषयों के प्रतिपादन करने वाले निबन्धकार का आज भी हिन्दी में अभाव अखरता है।

---

१४. श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

(*आलोचक के रूप में*)

साहित्य के यथार्थ दर्शन का नाम समालोचना है। वह स्वयं साहित्य है जो आलोचक की संस्कारितापूर्ण बुद्धि और ग्राहक हृदयवृत्ति से निर्मित होता है। साहित्य का ठीक मूल्यांकन करने के लिए समाज, धर्म और राजनीति की तत्कालीन अवस्था तथा परम्पराओं से परिचित होना आवश्यक है। यद्यपि मानव भावनाओं में युग का हस्तक्षेप नहीं होता तो भी विचारों और परम्पराओं में परिवर्त्तन का नूतन रूप प्रकटित होता रहता है। जब तक उन परिवर्तनशील तत्वों का अध्ययन और विश्लेषण नहीं होता तब तक यह निर्णय देना कठिन होता है कि आलोच्य साहित्य अनुगामी है अथवा पुरोगामी है। अनुगामी से मेरा आशय उस साहित्य से है जो समय के साथ तो है पर भूतकालीन साहित्य का ऋणी है। पुरोगामी से मेरा अशय भावी युग का संकेत करनेवाले सजग प्रेरणामय साहित्य से है। साहित्यालोचन के दो भाग होते हैं जिसे हम शास्त्र और परीक्षण कह सकते हैं। शास्त्र में आलोचना के सिद्धान्तों का निर्धारण और परीक्षण में निर्धारित सिद्धान्तों के अनुसार आलोच्य साहित्य का मूल्यांकन होता है।

हिन्दी-साहित्य में आलोचना के दोनों रूपों की प्रतिष्ठा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा निश्चय रूप से हुई है। उनकी आलोचना उनकी साहित्यिक मान्यताओं और विश्वासों से अंकित है और आलोचना के सिद्धान्तों को स्थिर करते समय उन्होंने जहाँ अपने देश के प्राचीन संस्कृत आचार्यों के सिद्धान्तों का सम्मान किया है वहाँ पाश्चात्य विचारों को भी काट-छाँटकर ग्रहण करने में कोई झिझक प्रदर्शित नहीं की है। उन्होंने एक वैज्ञानिक की भाँति पहले आलोचना के सिद्धान्त स्थिर किये और फिर उन्हीं के अनुरूप साहित्य की समीक्षा की। ऐसा करते समय न तो उन्होंने अत्यधिक अन्तर्मुखी वृत्ति प्रदर्शित की और न भावुकता के आवेग का ही विस्फोट होने दिया। डा० जॉनसन की

भाँति उन्हें प्रभाववादी आलोचना से बेहद चिढ़ थी। इसलिए उनकी भाषा और विचारों में अद्भुत संयम पाया जाता है।

जिस समय बख्शीजी का प्रादुर्भाव हुआ हिन्दी समीक्षा-जगत् पर शुक्लजी का आतंक छाया हुआ था। द्विवेदीजी थककर विश्राम ले रहे थे, कभी-कभी छायावादी काव्य-प्रवृत्तियों पर झुँझला अवश्य उठते थे। पं० पद्मसिंह शर्मा बिहारी के काव्य-वैभव को बड़ी बुद्धिमानी से अन्य कवियों की तुलना में उत्कृष्ट सिद्ध कर चुके थे, उनका अगाध पाण्डित्य किसी की चुनौती की अपेक्षा नहीं रखता था। संस्कृत, फारसी और अरबी साहित्य के अध्ययन का परिणाम उनकी भाषा और शैली पर स्पष्ट झलकता था। उसने उनकी शैली में प्रवाह और जीवट भर दिया था। भारतीय लक्षण-ग्रन्थों का आधार उनकी समीक्षा का प्राण था। तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में लोग उनकी ओर अंगुलि-निर्देश कर मौन हो जाते थे। आचार्य श्यामसुन्दर दास ने अधिकांश में पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर आनेवाले समीक्षकों के लिए (जो हिन्दी के द्वारा पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धान्तों को समझना चाहते थे) एक मार्ग खोल दिया था। आचार्य द्विवेदीजी के काल में और उससे भी पूर्व सामयिक साहित्य की पत्र-पत्रिकाओं में संक्षिप्त समीक्षाएं प्रकाशित होने लगी थीं। उनमें या तो पुस्तकों का परिचय मात्र होता था या दोष-दर्शन। तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में स्व० लाला भगवान 'दीन' और पं० कृष्णबिहारी मिश्र का द्वन्द्व भी प्रकट हो रहा था।

बख्शीजी ने कविता के क्षेत्र से समालोचना-जगत् में प्रवेश किया था और ऐसे कविता के क्षेत्र से जिसमें जगत् और जीवन के रहस्य को खोजने की आकांक्षा थी। अतएव उनकी लेखनी ने जिस विषय का स्पर्श किया उसे बाहर ही बाहर देखकर वह सन्तुष्ट नहीं हुई। उसने उसके अभ्यन्तर को भी परखने की उल्लास के साथ चेष्टा की। इसीलिए उनमें दार्शनिक का चिन्तन और कवि की भावुकता दोनों पाये जाते हैं। जहाँ उनकी आलोचना-प्रणाली में गम्भीर अध्ययन के साथ पाश्चात्य और प्राच्य समीक्षा-सिद्धान्तों का समीकरण पाया जाता है वहाँ किसी तथ्य विशेष को दार्शनिक दृष्टि से विस्तार के साथ जाँचने और भावुकता के साथ अपनी रुचि को पुरस्सर करने का उत्साह भी पाया जाता है। इस तरह हम

उनमें शुक्लजी की समन्वय-प्रणाली के साथ द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भाव-प्रवणता भी पाते हैं।[1] इससे आलोचना की निरपेक्ष रुक्षता बहुत कुछ निःशेष हो गई है। बहुत से समीक्षक कलाकार को उसकी कला में नहीं, उसके जीवन में खोजते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि साहित्यिक समालोचना मानस-विश्लेषण हो गई है। बख्शी जी इस सिद्धान्त को नहीं मानते वे कहते हैं—'कवि का जीवन काव्य नहीं है, किन्तु काव्य ही उसका जीवन है। इसलिए हम कवि को काव्य से पृथक् नहीं देख सकते।[2] साहित्य के समीक्षा-क्षेत्र में व्यक्तित्व को महत्त्व देने का आग्रह Sainte-Beuve नामक फ्रेञ्च समीक्षक ने प्रदर्शित किया है। इसका समर्थन मोरियो गेस्टन बेचलर्ड और एन्द्र गाइड ने भी किया है। प्रसन्नता की बात है कि फ्रायद की यह समीक्षा-प्रवृत्ति अपने जन्म स्थान में विलुप्त हो चुकी।

आधुनिक समीक्षा-प्रणाली की एक प्रवृत्ति यह भी रही है, जिसमें समीक्षक लेखक की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर उसके साहित्यिक स्पन्दन का अनुभव करता है।

पर लेखक के साथ तादात्म्य-भाव रखना ही पर्याप्त नहीं, समीक्षक को उससे भी तनिक ऊपर उठना पड़ता है। बख्शी जी की आलोचना में कलाकारों के प्रति तन्मय होने की प्रवृत्ति तो है परन्तु साथ ही उनकी सफलता और असफलताओं को निर्दिष्ट करने की तटस्थता भी है। वे अपने साहित्यिक आदर्शों के अनुरूप कलाकार को देखना चाहते हैं। कलाकार के अनुरूप अपने आदर्शों को ढालना उन्हें अभीष्ट नहीं है। "यथार्थ कवि का दर्शन" वे तभी करते हैं

---

[1] कई बार तो वे इन दोनों के विचारों के साथ अनजाने बहते जाते हैं। (देखिए विश्वसाहित्य)

[2] परन्तु बाद में यह मत बख़्शी जी ने दृढ़ता से मान्य नहीं किया। विश्व-साहित्य के ही पृष्ठ १२० पर वे लिखते हैं—'काव्य के अन्तर्गत जो सत्य है वह भी तब उपलब्ध होता है जब हम उस कवि के जीवन तथा तत्कालीन इतिहास के साथ तुलना करके देखेंगे।'

जब वह अपनी अन्तर्वेदना से पीड़ित हो पुकार उठता है। 'बिहारी-सतसई' को वे इसलिए महत्व नहीं देते कि उसमें कवि के यथार्थ दर्शन नहीं मिलते। कबीर, सूरदास, तुलसीदास, कालिदास और शेक्सपियर इसलिए उन्हें प्रिय हैं कि उनमें ससार को अपने से ऊँचा उठा ले जाने की क्षमता है—हृदय की विकलता है।

बख्शीजी ने पं० रामचन्द्र शुक्ल की भाँति किसी कवि विशेष पर विस्तृत समालोचना नहीं लिखी। उन्होंने सरस्वती के सम्पादन-काल में और उसके बाद भी अपने देश के साहित्य का विदेशी साहित्य के साथ समय समय पर जो तुलनात्मक अध्ययन किया, उसे ही नातिदीर्घ निबन्धों के रूप में प्रस्तुत किया है.[1] कुछ निबन्ध-साहित्य के स्वरूप उसकी जाति भाषा और उसके मूल तथा विकास को चर्चा करते हैं और कुछ काव्य, विज्ञान, कला, नाटक की चर्चा के साथ हिन्दी कविता की गति-विधि पर तुलनात्मक प्रकाश डालते हैं।

यद्यपि अपने समय के छायावादी काव्य के प्रति उनकी आस्था नहीं रही तो भी रससिद्ध कवियों के काव्य का आस्वादन उन्होंने निस्संकोच किया है, फिर चाहे वे किसी भी वाद के हों। साहित्य को जनसाधारण के निकट लाने की चिन्ता बख्शी जी में बहुत पूर्व से रही है। सन् १६२८ की अप्रैल मास की सरस्वती में उन्होंने एक सम्पादकीय टिप्पणी में लिखा था, "हमारा आधुनिक साहित्य जनसाधारण से दूर होता जा रहा है, जन-साधारण भाव और विचारधारा से हमारे आधुनिक साहित्य-सेवियों के भाव और चित्रण का व्यवधान क्रमशः बढ़ता जा रहा है, इसलिए आधुनिक साहित्य जातीयभाव, आदर्श और आकांक्षा को प्रकाशित करने पर भी वास्तव में जातीय नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि जाति कुछ अंगरेजी पढ़े लिखों में ही तो सीमित नहीं है, हिन्दू जाति की वास्तविक दशा जानने के लिये पर्णकुटीर में वास करने वाले अशिक्षित किसानों, जुलाहों, मजदूरों आदि लोगों के अभावों, आशाओं और आकांक्षाओं को

---

[1]देखिये उनके प्रसिद्ध ग्रंथ विश्वसाहित्य, हिन्दी-साहित्य विमर्श, प्रदीप, आदि।—लेखक

जानना होगा।" फिर भी कला और साहित्य को बहिर्मुखी बनाना भी उनका लक्ष्य नहीं है। विश्व-साहित्य पृष्ठ १७५ पर वे कहते हैं—"कला मनुष्य के अन्तः सौन्दर्य का बाह्य रूप है।" वे का य या कला की महत्ता उसकी उपयोगिता पर अवलम्बित नहीं मानते। "कालिदास का मेघदूत या शाहजहाँ का ताजमहल भारतीयों की कोई भी आवश्यकता पूर्ण नहीं करता, उनसे केवल आनन्द की ही प्राप्ति होती है।"[1]

कला की उन्नति देश या जाति की समृद्धि-अवस्था में होती है या संघर्ष (युद्धावस्था) में? इस प्रश्न पर बख्शीजी की पुस्तकों में दोनों प्रकार के विचार मिलते हैं। जिससे पाठक थोड़ी देर के लिये उलझन में फँस जाता है।

अतएव उनके विचारों को समझने के लिये पाठकों को किसी लेख विशेष का विचारखण्ड ही ग्रहण नहीं कर लेना चाहिए। उनके समस्त साहित्य का अध्ययन करने पर ही उन्हें समझा जा सकता है। भारतीय साहित्य, संस्कृति साहित्य अथवा भारतीय जाति के लिये कई स्थानों पर हिन्दी साहित्य, नाटक, हिन्दू जाति शब्दों का प्रयोग मिलता है। प्रतीत होता है उनका भारतीय संस्कृति का अभिमानी मन अतीत की कल्पना से अपने को मुक्त नहीं करना चाहता क्योंकि वह गौरवपूर्ण है, समृद्धशाली है। बख्शीजी का अध्ययन अधिक विविध और विस्तृत होने के कारण वे किसी एक बात को प्रस्तुत करते ही उसी तक अपने को सीमित न रखकर उसी से सम्बन्ध रखने वाली अन्य विचारधाराओं में अवगाहन करने लगते हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है मानों प्रतिपाद्य विषय गूढ़ होता जा रहा है या छूटता जा रहा है। पर जब हम विषय की समाप्ति की ओर बढ़ते हैं तो विचार-शृंखला का सूत्र पा लेते हैं। उनकी यह दार्शनिक वृत्ति उनके लेखन के हर क्षेत्र में दर्शित होती है जिससे उन्हें आसानी से समझा नहीं जा सकता। हाल की पुस्तकों ('और कुछ' 'त्रिवेणी' आदि) में साहित्य के सिद्धान्तों को कथा-रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति भी उनकी बढ़ रही है जिसे हम हिन्दी में आलोचना की अभिनव प्रणाली कह सकते हैं।

---

[1] (सरस्वती, भाग २९ पृष्ठ ३६८)

पाश्चात्य साहित्य से हिन्दी की तुलना करने की प्रवृत्ति उन्हीं के 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में जोशी बन्धु, स्वर्गीय अवध उपाध्याय, शिलीमुख आदि ने ग्रहण की थी और आज भी नलिन विलोचन शर्मा, देवराज, श्रीमती शचीरानी आदिउसको अधिक प्रशस्त और प्रभावित कर रहे हैं। प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार के साहित्य मान्य हैं, पारखी दोनों की परीक्षा कर उसे ग्रहण करते हैं—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्
संतः परीक्ष्यान्तरद् भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।"

बख्शी जी अपने आदर्श-द्विवेदी जी—के समान ध्येयवादी हैं। संसार के किसी भी साहित्य पर जहाँ साहित्यकार का हृदय बोलता है अपने हृदय का कोष निश्छल रिक्त कर देते हैं। बिना किसी बनाव-सिंगार के अपने को व्यक्त कर देने की कला उनकी अपनी है।

---

१५. प्रसाद का उपन्यास 'कंकाल'

'प्रसाद' की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उन्होंने साहित्य के सभी अङ्गों—कविता, नाटक, निबंध, समीक्षा, कहानी और उपन्यास को पल्लवित करने का यत्न किया है। जिस प्रकार कविता में उन्होंने वाद विशेष की दिशा निर्दिष्ट की; उसी प्रकार कथा के क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली का परिष्कार किया—उनकी कहानियों का तंत्र उनका अपना है। उनके पात्रों की दुनिया भी अपनी है, जिनकी भावुकता और त्याग से हम हर्ष-विकम्पित और करुणा-विगलित होते हैं। जिस समय लघु-कथा के क्षेत्र में प्रसाद की प्रसिद्धि उनके रोमानी दृष्टिकोण के कारण व्यापक बन रही थी; उसी समय प्रेमचंद ऐसे कथा-साहित्य की सृष्टि कर रहे थे—जो यथार्थ की भूमि पर स्थित होते हुए भी आदर्श की ओर उन्मुख था। अपने इस दृष्टिकोण को वे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के नाम से अभिहित करते थे। प्रेमचंद समाज की व्यवस्था से विद्रोह तो करते थे पर उसके द्वारा मनोनीत चरित्रों की उपेक्षा करना उन्हें बहुत अभीष्ट न था। वे समाज-व्यवस्था पर एक हाथ से प्रहार करते और दूसरे हाथ से उसको सह-लाते थे। समाज की बुराइयों को प्रस्तुत करना ही वे अपना धर्म न मानते थे, प्रत्युत उनका हल खोजना भी वे आवश्यक समझते थे।

'कंकाल' अपने समय की उपन्यास-प्रवृत्ति के विपरीत नूतन और विस्फोटकारी दृष्टिकोण उपस्थित करता है। समाज में घृणित, पद-दलित और उपेक्षित पात्रों का यथार्थ रूप चित्रित कर हिन्दी में आनेवाले युग का जयघोष करता है। समाज में जो सांसारिक और धार्मिक वृत्तियों का द्वंद्व चल रहा है उसे निरपेक्ष भाव से चित्रित करने का उसमें संकल्प परिलक्षित होता है। प्रतीत होता है, लेखक अपने समाज के अशोभन, असुंदर और अनादृत स्वरूप का निरावरण मात्र करना चाहता है जिससे जनता उसकी विभीषिका से चौंककर आत्मसुधार का स्वयं मार्ग खोज ले। 'प्रसाद' ने अपने समकालीन उपन्यास-

कारों के समान समस्याओं को प्रस्तुत करते समय उपदेशक का बाना धारण नहीं किया। 'कंकाल' में समाज की विकृत, अप्राकृतिक स्थिति के प्रति भीषण रोष व्यक्त हुआ है। धर्म के थोथेपन और आडम्बरपूर्ण कदाचार से लेखक की भारत के अतीत गौरव को आराधक मनोवृत्ति अस्वस्थ हो उठी है। तभी उन्होंने एक पात्र के मुँह से कहलाया है—"प्राचीन कुसंस्कारों का नाश करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ क्योंकि यही रूढ़ियाँ आगे चलकर धर्म का रूप धारण कर लेती हैं। जो बातें कभी देश, काल, पात्रानुसार प्रचलित हो गई थीं वे सब माननीय नहीं, हिन्दू समाज के पैरों में ये बेड़ियाँ हैं।" पाप-पुण्य के झमेले में समाज को उलझाकर कितना अमानव व्यापार होता है, इससे भी लेखक का हृदय काँप उठा है। एक बुद्धिवादी की नाईं वह उनकी व्याख्या करता है—"पाप और कुछ नहीं है; जिन्हें हम छिपाकर किया चाहते हैं उन्हीं कर्मों को पाप कह सकते हैं परंतु समाज का एक बड़ा भाग उसे यदि व्यवहार्य बना दे तो वही कर्म धर्म हो जाता है। इतने विरुद्ध मत रखनेवाले संसार के मनुष्य अपने अपने विचारों में धार्मिक बने हैं। जो एक के लिए पाप है, वही दूसरे के लिए पुण्य है।"

'कंकाल' का प्रारम्भ ही धार्मिक अथवा पाप-पुण्य के वातावरण से होता है। अमृतसर का व्यापारी श्रीचन्द अपनी पत्नी किशोरी के साथ प्रयाग में माघी अमावस्या से समय गंगातट पर एक महात्मा के दर्शन के लिए जाता है और महात्मा को ज्योंही किशोरी अपना परिचय देती है, वह चौंक जाता है क्योंकि वह उसकी बाल-संगिनी थी। महात्मा के मन में अतीत और वर्तमान का संघर्ष होता है। वह राग-विराग से अपने को पृथक रखने की दृष्टि से एकाएक हरिद्वार भाग जाता है। किशोरी पुत्र की कामना लेकर महात्मा के दर्शनार्थ प्रयाग आई थी। जब महात्मा हरिद्वार भाग गये तो वह भी वहीं पहुँच गई। किशोरी ने महात्मा के आगे अपनी अभिलाषा व्यक्त की। महात्मा ने अपना परिचय देते हुए कहा—"किशोरी, मैं वही रंजन हूँ। तुमको पाने के लिए ही जैसे आज तक तपस्या करता रहा, यह संचित तप तुम्हारे चरणों में निछावर है। संतान, ऐश्वर्य और उन्नति देने की मुझमें जो कुछ शक्ति है, वह सब तुम्हारी

है।" अतीत की स्मृति, वर्तमान की कामनाएँ, किशोरी को भुलावा देने लगीं। माथे से पसीना बहने लगा। दुर्बल हृदया किशोरी को चक्कर आने लगा। उसने ब्रह्मचारी के चौड़े वक्ष पर अपना सिर टेक दिया। किशोरी महात्मा के साथ बहुत समय तक रही। श्रीचंद के बहुत आग्रह के बाद अमृतसर गई। महात्मा उसकी पुत्रकामना पूरी करने के कारण बने। किशोरी के जाने के बाद महात्मा का एक रामा विधवा से अवैध संबंध हो जाता है और उससे 'तारा' नामक पुत्री उत्पन्न होती है। काशी में ग्रहण के अवसर पर तारा भीड़ में भूल जाती है। एक स्वयंसेवक उसे देखकर उसकी सहायता करना चाहता है पर एक बुढ़िया उसे बहकाकर अपने साथ ले जाती है। वह लखनऊ में कुटनी के चक्कर में फँस कर वेश्या बनने का उपक्रम करती है। स्वयं-सेवक मंगल उसकी रक्षा कर हरिद्वार ले जाता है। वहाँ दोनों आर्य समाजी बनकर विवाह-सूत्र में बँधना ही चाहते थे कि तारा की काकी ने मंगल से कह दिया कि वह जारजसंतति है। मंगल तारा को निस्सहाय छोड़कर भाग जाता है। काकी तारा पर अत्याचार करती है। तारा भी घर छोड़ देती है। काशी चली जाती है। उधर अमृतसर में श्रीचंद को जब यह ज्ञात हो जाता है कि किशोरी महात्मा की जारज-संतति पेट में लेकर आई है तो उसे उससे विरक्ति हो जाती है। वह पुत्र होने पर खुशी नहीं मनाता। किशोरी और उसके लड़के को इस बहाने काशी भेज देता है कि अमृतसर का जलवायु दोनों को अनुकूल नहीं है। काशी में माँ-बेटे के लिए अच्छे मकान का प्रबंध कर दिया जाता है और अच्छी रकम श्रीचंद प्रतिमास भेजकर किशोरी को संतुष्ट रखता है। इधर हरिद्वार के महात्मा देव-निरंजन काशी में किशोरी के घर पर ही आकर रहने लगते हैं, ठाकुर जी के पुजारी का रूप धारण कर।

किशोरी का पुत्र विजय विद्यालय में पढ़ता है। वहीं मंगल भी पहुँच जाता है। दोनों में घनी मैत्री हो जाती है। मंगल विजय के घर ही रहने लगता है। किशोरी महात्मा निरंजन के साथ तरह-तरह के धार्मिक उत्सवों का स्वाँग रचती रहती है। एक उत्सव में भीड़-भाड़ से त्रस्त स्त्री को किशोरी ने दया कर अपने घर में दासी के रूप में रख लिया। वह 'यमुना' के रूप में 'तारा' ही

थी, जिसे मंगल ने जारज-संतान समझकर परित्यक्त कर दिया था और जो अपने पन्द्रह दिन के शिशु को अस्पताल में भगवान के भरोसे छोड़कर काशी भाग आई थी। गली-गली के टुकड़ों से अपने पेट की ज्वाला को शांत करती रहती थी। मंगल ने जब एक दिन तारा को पहचाना तो वह भाग खड़ा हुआ। विजय तारा की ओर आकर्षित होता है। तारा उसे जरा भी प्रोत्साहित नहीं करती। विजय में यौवन उभार भरता रहता है। उसे मदिरा का बेसुध बनाने वाला नशा भी लग चुका था। बस, मदिराक्षी के लिए उसका अतृप्त हृदय बेचैन हो उठता था। विजय और निरंजन में भीतर ही भीतर अनबन रहती थी। निरंजन के पास किशोरी विजय और यमुना के साथ वृन्दावन चली जाती है। वहीं एक 'घंटी' नामक कुख्यात विधवा से विजय का परिचय हो जाता है। अनाथों—असहायों के लिए पाठशाला चलाते हुए मंगल भी वहीं मिल जाता है। विजय को जब यमुना नहीं अपनाती तो वह घंटी को ज़बरन अपनी बनाने को व्यग्र हो जाता है। घंटी बदनाम स्त्री है। किशोरी और मंगल को विजय का यह प्रणय-व्यापार नहीं रुचता। मथुरा में 'चर्च' के पादरी के परिवार द्वारा घंटी की गुंडों से रक्षा होती है। घंटी विजय के साथ ताँगे में घूम रही थी, तभी विजय पर प्रहार किया गया था। बाथम की ईसाई स्त्री लतिका में (घंटी को लेकर) मनमुटाव प्रारम्भ हो गया। एक अंधे भिखारी के द्वारा घंटी को विदित होता है कि वह गोविन्दी चौबाइन की पुत्री है। लतिका अपने पति को चल-विचल देखकर उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेती है और वहां गोस्वामी जी के आश्रम में शरण लेती है। गोस्वामी जी ने मंगल को भी अपने य ाँ रख लिया था। किशोरी और निरंजन विजय को त्यागकर काशी चले गये थे पर माँ का हृदय पुत्र के लिए छटपटा उठता था। निरंजन को किशोरी ने विजय को घर लौ ा लाने के लिए भेज दिया। निरंजन को विजय दिखाई ि या पर घंटी के साथ रात में नौका विहार करते। जब प्रातः नौका किनारे लगी तो घंटी को छीनने के लिए विजय से गुंडों की पुनः झपटें हुईं। विजय ने एक गुंडे को वहीं मार डाला। दूसरा भाग गया। इसी समय निरंजन दोनों को यमुना के आग्रह पर घटनास्थल से अज्ञात स्थान पर ले गया। पुलिस ने

यमुना को ही अपराधी मानकर गिरफ्तार कर लिया। विजय जंगल में डाकुओं के सरदार के साथ रहने लगता है। उसकी कन्या 'गाला' का उससे स्नेह हो जाता है, पर वह उसके साथ विवाह नहीं करता। सरदार की नाराजी से बचने के लिए विजय भाग जाता है। गाला भी मंगल की पाठशाला में पढ़ाने का काम करने लगती है। पुलिस की गोलियों से उसके पिता की मृत्यु हो जाती है। उद्विग्न हो वह गोस्वामी जी के आश्रम में रहने लगती है। मंगल आदि मिलकर 'भारत संघ' की स्थापना करते हैं जिसमें हिन्दू धर्म, राम, कृष्ण, बुद्ध की आर्य-संस्कृति का प्रचार किया जाता है। उसमें विभिन्न प्रकार के जातिवादों की उपेक्षा की जाती है। उपन्यास के प्रायः सभी पात्र इस संघ में सम्मिलित हो जाते हैं और एक-दूसरे को पहचान लेते हैं। केवल विजय ही भिखारी के रूप में अपने प्राणों का उत्सर्ग करता है। उसकी भूख से जर्जर देह क्षीण हो जाती है। निष्प्राण होकर गिर जाती है। यमुना (तारा) अपने मालिक (किशोरी के पति) से दस रुपया उधार लेकर उसकी अंतिम क्रिया की तैयारी करती है। जनता देखती है—अवगुण्ठनवती स्त्री का आँचल आँसुओं से रह-रहकर भीग उठता है और उसके पास पड़ा हुआ है—किसी ज़माने में वैभव के अधिपति का सूखा 'कंकाल'!

यह है उपन्यास का कथानक; जिसमें घटनाओं के अनेक सूत्र गूँथे हुए हैं। यह इतना जटिल है कि नायक तथा नायिका का पता लगाना कठिन हो जाता है। वास्तव में इसमें कोई प्रधान पात्र ही नहीं है जिसे केन्द्र बनाकर कथा चलती हो। प्रत्येक पात्र जोड़ी से रंगमंच पर आता है, घटनाओं की सृष्टि करता है और उन्हीं में डूब-उतराकर अंत में गोस्वामी जी के संघ में समा जाता है। नायक और नायिका से रहित होना भी 'कंकाल' की एक विशेषता है। घटनाओं के घटाटोप के कारण पात्रों के मन की स्थिति का पूर्ण रूप से विश्लेषण करना भी लेखक के लिए संभव नहीं हो सका।

'कंकाल' की दूसरी विशेषता यह है कि उसके प्रायः सभी पात्र अनैतिक, आचारी और आदर्श-शून्य हैं। इतना होने पर भी वे पाठकों की सहानुभूति नहीं खोते। बेचारी कुख्यात घंटी की रुनझुन, उसकी हृदय से निकली—

"सब सखियाँ मिलि फाग मनावत,
मैं बावरी सी डोलूँ"

की धुन सहज स्वभाव के कारण मन को मोह लेती है। 'कंकाल' में यदि किसी का चरित्र आदर्श की चरम सीमा पर है तो वह है यमुना उर्फ़ तारा का। मंगल को सर्वस्व देकर फिर उसके हृदय ने किसी को पति रूप में स्वीकार नहीं किया। विजय की लालसा भरी मनुहारों को झिड़ककर उसने कहा था—"किसी के हृदय की शीतलता और किसी के यौवन की उष्णता—मैं सब झेल चुकी हूँ। उसमें सफल नहीं हुई, उसकी साध भी नहीं रही। विजय बाबू ! मैं दया की पात्री एक बहन होना चाहती हूँ। है किसी के पास इतनी निःस्वार्थ स्नेह-सम्पत्ति जो मुझे दे ?" स्त्री के इस आवेश भरे थप्पड़ से विजय चक्कर खा गया। फिर भी विजय को फाँसी के तख्ते से बचाने के लिए उसने अपना गला फाँसी की रस्सी में डाल दिया और उसकी उपेक्षित लाश की रक्षा भी उसने अपना आँचल फैलाकर की। मंगल आदर्शवादी बनता है। पाठशालाएँ चलाता है पर जब किसी नारी के नेत्र प्रश्न बनने लगते हैं, वह कमज़ोर छात्र की नाईं निरुत्तर होकर लड़खड़ाकर उसी के चरणों में गिर जाता है। तारा के सामने ही वह गाला से विवाह कर लेता है।—वह सचमुच "पवित्रता और आलोक से घिरा हुआ पाप है।" निरंजन समाज का दम्भ है, जिसमें ईमानदारी छू भी नहीं गई। उसी के शब्द में वह "पिशाच" है। उसने परमात्मा का संबंध हृदय से माना और शरीर को व्यभिचार के लिए मुक्त छोड़ दिया। विजय तारा और घंटी से ठुकराये जाने पर बहुत कुछ आदर्श के पथ पर बढ़ जाता है। उसका मानसिक उत्थान बुझते हुए दीपक की लौ के समान आकर्षक और उज्ज्वल है। पात्रों के मन में अंतर्द्वन्द्व की कमी होते हुए भी घटनाचक्र से उनका चित्रण बहुत कुछ सफल हो गया है।

'कंकाल' की तीसरी विशेषता है घटनाओं का नाटकीय ढंग से अवतरित होना। प्रायः सभी घटनाएँ तिलस्मी उपन्यासों की भाँति सहसा घटती हैं—आकस्मिक होती हैं। गंगा में तारा डूबना चाहती है—कोई उसको पकड़ लेता है। विजय पकड़ा ही जाने वाला है, यमुना और निरंजन घटनास्थल पर पहुँच जाते

हैं; विजय घोड़े से गिरना चाहता है, मंगल दौड़कर घोड़े को पकड़ लेता है। 'प्रसाद' का नियतिवाद ही संभवतः आकस्मिक घटनाओं की सृष्टि का समाधान है।

'कंकाल' विश्लेषणात्मक उपन्यास न होकर वर्णनात्मक है। इसीलिए भाषा का बनाव-सिंगार इसमें बहुत कम है। फिर भी यत्र-तत्र वर्णन का चातुर्य झलक ही उठता है—"भीड़ के एक ही धक्के में तारा अपनी माता तथा साथियों से अलग हो गई। यूथ से बिछड़ी हुई हरिनी के समान बड़ी-बड़ी आँखो से वह देख रही थी। कलेजा धक्-धक् करता था, आँखें छलछला रही थीं और उसकी पुकार महाकोलाहल में विलीन हुई जाती थी······वह युवती हो चली थी। अनाघ्रात कुसुम के रूप की पंखुरियाँ विकसी न थीं।"

'कंकाल' में जीवन-सूक्तियों की लड़ियाँ यहाँ-वहाँ बिखरी हुई हैं। स्त्री-पुरुष-संबंध के अनुभवसूत्र हृदय-स्पर्शी हैं। कुछ बानगी लीजिए—(१) चिन्ता जब अधिक हो जाती है, तब उसकी शाखा-प्रशाखाएँ इतनी निकलती हैं कि मस्तिष्क उनके साथ दौड़ने में थक जाता है। (२) स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है। (३) नारी-जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है। (४) हृदय का सम्मिलन ही व्याह है।

'कंकाल' इसलिए हिन्दी में युगान्तकारी रचना है कि इसने प्रथम बार उपन्यास-तंत्र के आदर्शवादिता की सर्वथा उपेक्षा की, रूढ़िग्रस्त समाज-मान्य नायक नायिकाओं की तनिक भी चिन्ता नहीं की—अनेक समान महत्व के पात्रों की सृष्टि कर पाठकों को ही अपने प्रियपात्र को प्रधानता देने की छूट दे दी। अश्लीलता का लेश न रखकर भी समाज का नग्न-चित्रण यथार्थ रूप में किस प्रकार किया जा सकता है, 'कंकाल' इसका आदर्श है।

"सुनो रे मानुष भाई,
सबार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नाईं॥

चंडीदास का यह मानव-धर्म 'कंकाल' के क्षीण-तंतुओं से रह-रह चीत्कार उठता है।

---

१६. हिन्दी में सन्त-साहित्य-विवेचन

हिन्दी में संत-साहित्य की ओर शोधक दृष्टि डालने की परम्परा स्वर्गीय डॉ० बड़थ्वाल ने प्रारम्भ की। उनकी 'निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोयट्री' कृति डी० लिट्० के प्रबन्ध का विषय थी। हिन्दी के वे प्रथम डाक्टर थे जिनके प्रबन्ध की मौलिक शोध की पाश्चात्य विद्वानों तक ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी। श्री क्षितिमोहन सेन की सन्त-साहित्य-साधना सर्व विश्रुत है। इस दिशा में उनका ज्ञान-योग समादर की वस्तु है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के हृदय में भी यही साधना प्रतिफलित हुई है। पर डॉ० बड़थ्वाल ने संत-साहित्य के अध्ययन में जिस सामान्य धारा को खोजने का उपक्रम किया था, उसकी परिणति श्री परशुराम चतुर्वेदी में दीख रही है। 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा,' 'सन्त-काव्य', 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' आदि कृतियों में उनकी उसी 'परमतत्त्व' की खोज जारी है। वे मानों अनुभव करते हैं—"जहँ देखौं तहँ एक ही साहब का दरबार।" इन महानुभावों के अतिरिक्त और भी सन्त-साहित्य के प्रेमी हैं जिनके हृदय में सन्तों का भाव-रस अहर्निश झरता रहता है। ऐसे अप्रकट साधकों में बिहार के श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' का नाम उल्लेखनीय है। उनकी 'मीरा की प्रेम-साधना' और 'सन्त-साहित्य' में यद्यपि शोध के विशेष तत्त्व नहीं हैं तथापि भावुक हृदय की वह विभोरता अवश्य है जो 'सन्तों' के मर्म तक पहुँच कर उनकी अनुभूति को अपनी बनाने के लिए आतुर रहती है।

प्रश्न यह है कि 'सन्त' शब्द किसके लिए व्यवहृत होना चाहिए? क्या समस्त आस्तिक-भगवान् के आराधक—'सन्त' कहलाते हैं या कहला सकते हैं? दूसरे शब्दों में "चित्रकूट के घाट पर भीर" लगाने वाले 'सन्त' हैं या 'दिल के आइने में तस्वीरे यार' देखने वाले अथवा दोनों ही? जनसाधारण तो जिन्होंने

'उसक' मार्ग पर चलने का व्रत ले लिया है उन सबको 'सन्त' शब्द से अभिहित करता है चाहे वे 'राम' के दरबार में जा रहे हों, चाहे 'ब्रह्म' को अपने हां में खोज रहे हां। 'सन्त' शब्द का प्रयोग पहिले व्यापक अर्थ में किया जाता था। इस शब्द को "पालिभाषा के उस 'शान्त' शब्द से निकला हुआ मान सकते हैं जिसका अर्थ निवृत्ति-मार्गी या विरागी होता है अथवा यह उस 'सत्' शब्द का बहुवचन हो सकता है जिसका प्रयोग हिन्दी में एकवचन जैसा होता है और जिसका अभिप्राय एकमात्र सत्य में विश्वास करने वाला अथवा उसका पूर्णतः अनुभव कर लेने वाला व्यक्ति समझा जाता है" (बड़थ्वाल)। परशुराम जी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में और भी खोज की है। उन्होंने ऋग्वेद में भी 'सत' शब्द ढूँढ़ निकाला है—(सुवर्णविप्राः कवयोर्वचोभिरेकं **सन्तं** बहुधा कल्पयन्ति।) डॉ० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित 'पाहुड़ दोहा' में भी 'सन्त' शब्द प्रयुक्त है (**संत** णिरजणु सोजि सिउ।) कबीर, तुलसी आदि भक्त कवियों ने भी इसका प्रयोग किया है। अतः 'संत' शब्द इस विचार से 'उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत् रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर लिया हो' और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से, ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया है। ऐसी दशा में उन सगुणवादियों को 'सन्तों' की श्रेणी से क्यों निष्कासित कर दिया गया है जिन्होंने अपने "व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उस 'परमतत्त्व का अनुभव" किया है?" निर्गुणियों को 'सन्त' और सगुणियों को 'भक्त' कहने की परिपाटी कदाचित् आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने चला दी है जिसका अनुसरण उनके परवर्ती लेखक बराबर करते आ रहे हैं। यों 'सन्तों' में अद्वैती, भेदाभेदी, और विशिष्टाद्वैती-तीनों दार्शनिक मत के व्यक्ति दिखलाई पड़ते हैं और तुलसीदास के समान सभी सन्तों ने यह माना है—

> **वाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुण भव पार न पावै कोई**
> **ज्यों गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई।"**

इसीलिये सन्त 'सिद्धान्त वाक्यों' की चर्चा मात्र में विश्वास नहीं करते, वे उसे अनुभव में उतार कर ही सन्तुष्ट होते हैं। 'सत् रूपी परमतत्त्व' को अनुभव करने वालों में व्यापक दृष्टि रखने वाले, कुछ साधक और सम्प्रदाय ऐसे

हैं जिनकी चर्चा 'सन्त-परम्परा' का विवेचन करनेवाले ग्रंथों में होनी चाहिए। उदाहरणार्थ-दक्षिण के जहाँ वारकरियों—नामदेव, ज्ञानदेव आदि-को जो पंढरपुर के मंदिर में प्रतिष्ठित 'बिठोवा' की आराधना करते हैं और 'परम सत्य' की व्यापकता भी अनुभव करते हैं, सन्त-परम्परा में स्थान दिया गया है, वहाँ विदर्भ और गुजरात में पनपनेवाले 'महानुभाव पंथ' के सन्तों का कहीं उल्लेख नहीं है, न डॉ० बड़थ्वाल के ग्रंथ में और न परशुराम जी की 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' में ही। महानुभाव पंथी उत्तर में काबुल तक फैले हुए थे। यद्यपि ये 'कृष्ण' की चर्चा करते हैं तो भी अपने को हिन्दू या किसी विशिष्ट जाति में परिगणित नहीं करते। यही कारण है कि मुसलमानी शासनकाल में इन पर 'जज़िया'-कर नहीं लगाया जाता था। महानुभाव पंथियों में कुछ सन्त ऐसे भी हैं जिनकी हिन्दी में भी वाणी मिलती है।

इस तरह हम देखते हैं कि सन्तों और अनेक भक्तों में जिनकी 'कथनी-करनी' में तादात्म्य है, विभाजक रेखा खींचना कठिन है। अतः पूर्व मान्यताओं का ही परशुराम जी ने अपने 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' में सम्मान किया है। उन्होंने अपने वक्तव्य में लिखा है—'सन्त-परम्परा के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाने वाले सन्तों का चुनाव करते समय सबसे अधिक ध्यान स्वभावतः उन लोगों की ओर ही दिया गया है जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से कबीर साहब तथा उनके किसी अनुयायी को अपना पथ-प्रदर्शक माना था अथवा जिन्होंने उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धांतों और साधनाओं को किसी न किसी प्रकार अपनाया था।' फिर भी उन्हें "इस ग्रंथ में कुछ ऐसे लोगों को भी स्थान देना पड़ा है जो सूफ़ियों, सगुणोपासकों, नाथ-पंथियों वा अन्य ऐसे सम्प्रदायों के साथ सम्बद्ध रहते हुए भी सन्त-परम्परा में गिने जाते आये हैं और जो अपने सन्तमतानुकूल सिद्धान्तों वाली रचनाओं के आधार पर भी उक्त सन्तों के अत्यन्त निकटवर्ती समझे जा सकते हैं।" इसीलिये 'अल्ला-ईश्वर' को एक माननेवाले महात्मा गांधी भी इस ग्रंथ की सन्त-पंक्ति में विराजित हैं। हिन्दी में अन्य सन्तों की भाँति उन्होंने कोई 'बानी' नहीं लिखी। हाँ, उनका साधनामय जीवन सन्तों की श्रेणी में निस्संदेह आ जाता है। अतएव लेखक को सन्तों के चुनाव में 'समझौता'

करना पड़ा है। लगभग साढ़े सात सौ पृष्ठों का विशाल ग्रन्थ सात अध्यायों में विभाजित है। इसके मुख्य दो भाग हैं। पहिले में कबीर के पूर्वकालीन सन्तों पर विहंगम दृष्टि है और दूसरे में कबीर से लेकर महात्मा गांधी तक के सन्तों की जीवनी और उनके सिद्धान्तों की विवेचना है। कबीर साहब ही इस ग्रन्थ की नींव है; उन्हीं पर इस ग्रन्थ का प्रासाद स्थित है। अतएव कबीर के जीवन और उनके सिद्धान्तों पर विद्वान लेखक ने पर्याप्त अनुशीलन, चिंतन और विवेचन किया है। कबीर पर आज तक जितनी खोज हो चुकी है उसका पूरा आकलन और अपना निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। फिर भी उन्हें यह मानना ही पड़ा है कि 'कबीर साहब का जीवनकाल पूर्ण रूप से निर्धारित करने के लिए अभी तक यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं है और इसी कारण इस विषय में हम अन्तिम निर्णय असंदिग्ध रूप से देने में असमर्थ ही कहे जा सकते हैं।'' कबीर के समसामयिक सन्त स्वामी रामानंद (इन्हें कबीर का गुरु कहा जाता है।) सेनानाई, पीपाजी, रविदास (रैदास जी), कमाल, धन्ना भगत आदि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसके बाद कबीर मत की विभिन्न शाखाओं का भी वर्णन किया गया है। नानक पंथ, लाल पंथ, दादू पंथ, निरंजनी सम्प्रदाय, बावरी पंथ, बाबालाली सम्प्रदाय, धामी सम्प्रदाय, सत्तनामी सम्प्रदाय, धरनीश्वरी सम्प्रदाय, दरियादासी सम्प्रदाय, दरिया पंथ, शिवनारायणी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय, गरीब पंथ, पानप पंथ, रामसनेही सम्प्रदाय, साहिबपंथ, नांगी सम्प्रदाय, राधास्वामी सत्संग आदि पंथों और सम्प्रदायों की चर्चा का इसमें समावेश है। सन्तों की वाणी के साथ भाव विभोरता स्थापित करने पर भी लेखक की शैली में भावुकता बिलकुल नहीं है; प्रौढ़ तर्क और वैज्ञानिक अन्वेषण का चातुर्य है। यह सच है कि कबीर के समान सभी सन्तों का ऊहापोहात्मक विवेचन नहीं हो पाया है पर इसके लिए इसी कोटि की कई जिल्दों की आवश्यकता है। लेखक ने इस कमी को अपने दूसरे ग्रन्थ 'सन्त काव्य' में पूरी करने का प्रयत्न किया है, और इसे 'प्रयत्न' ही बतलाया भी है। हाँ, इस ग्रन्थ को १२६ पृष्ठों की भूमिका अवश्य उपयोगी है जिसमें सन्त-साहित्य की संक्षिप्त रूप-रेखा के साथ सन्त-काव्य का (यद्यपि सन्तों ने कभी अपनी 'बानियों' में काव्य रचना का विशेष ध्यान नहीं रखा।) सौंदर्य, रस,

अलंकार, छंद, भाषा, संगीत आदि की दृष्टि से उद्घाटित किया है। इस तरह काव्य-शास्त्र की दृष्टि से 'सन्त-साहित्य' का मूल्यांकन किया गया है। संवत् १२०० से सं० १६६३ तक होने वाले सन्तों का—जयदेव से लेकर रामतीर्थ तक—सामान्य परिचय उनकी चुनी हुई रचनाओं सहित दिया गया है। इस तरह जनता में सन्त-साहित्य के प्रति अभिरुचि जागृत करने के लिए यह उपक्रम प्रतीत होता है। परिशिष्ट में कुंडलिनी, गगन, चंद्र, निरति, सुरति आदि शब्दों पर अत्यन्त संक्षिप्त टिप्पणियाँ दे देने से संत की पारिभाषिक शब्दावली से पाठक बहुत कुछ परिचित हो जाता है। सन्तों के अध्ययन में एक और कड़ी जोड़नेवाली कृति श्री परशुराम जी की 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' है। प्रेम-साधना का सम्बन्ध 'प्रेमलक्षणा भक्ति' से है। इस पुस्तक के दस निबन्धों में मध्यकाल के संतों और भक्तों ने प्रेम द्वारा अपने आराध्य की जिस तन्मयता से उपासना की है, उसका सहृदयता पूर्ण विवेचन किया गया है। तमिल प्रान्त के आड़वार भक्त, बंगाल के सहजिया सम्प्रदाय और बाउल-सम्प्रदाय के अतिरिक्त मीरां, जायसी, हितहरिवंश, नंददास और रसखान के हृदय की प्रेम संकुल मनोहर झाँकी भी इसमें मिलती है। हिन्दी में इस तरह सन्त-साहित्य का गंभीर विवेचन श्रीपरशुराम चतुर्वेदी की उपर्युक्त कृतियों में मिल जाता है। विद्वान लेखक ने संतों की वाणियों के संकलन में भी पर्याप्त श्रम उठाया है। प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन में उन्होंने ठीक 'पाठ' निर्धारित करने का यत्न किया है। 'मीराँबाई की पदावली' में उनकी सम्पादन-पटुता का परिचय मिलता है। इसकी खोजपूर्ण भूमिका से 'मीराँ' के अंधकारमय जीवन पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है और कई भ्रांतियों का निवारण होता है। इसी का आधार लेकर श्रीमती 'शबनम' ने मीरां पर एक विवेचनात्मक पुस्तक भी लिखी है।

हमारा विश्वास है, वर्तमान लेखकों मेंसन्त-साहित्य को अपनी साधना का एकान्त लक्ष्य बनानेवालों में श्री परशुराम जी का स्थान अग्रणी है। उनके ग्रन्थ सन्त-साहित्य के अध्ययन करने वालों के लिए 'संदर्भ ग्रन्थ' सिद्ध होंगे। 'उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा' का प्रकाशन हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक घटना कही जा सकती है।

---

१७. नामदेव और उनकी हिन्दी-कविता

प्राचीन युग में आसेतु हिमाचल तक जो सांस्कृतिक योग हम पाते हैं, वह संतों की जागरूकता और समन्वय बुद्धि के कारण ही सध सका है। उनकी पर्यटन-प्रवृत्ति ने एक प्रान्त की संस्कृति का दूसरे प्रान्तों में सहज संचार कर दिया था। प्रान्तीयता की दीवारों को उन्होंने ढा दिया था। इसीलिए ज्ञान, धर्म, साहित्य और संस्कार का अमृत किसी प्रान्त विशेष से झरकर उसी तक नहीं रह गया, उसने समस्त देश को आप्लावित किया। किसी भी प्रान्त की जनता ने यह जानने की कभी चेष्टा नहीं की कि शंकराचार्य, चैतन्य, नामदेव, मीरां, सूर, और कबीर ने कहाँ जन्म लिया, क्योंकि जिस प्रकार उन्होंने सब प्रान्तों को अपना समझा, उसी प्रकार सब प्रान्तों ने भी उन पर अपना समान अधिकार माना। यही कारण है कि प्राचीन संतों के जीवन-क्रम का ज्ञान सन्दिग्ध और अपूर्ण रह गया है। संतों ने स्वयं अपने संबंध में प्रायः मौन धारण किया है। उन्हें अपने भौतिक शरीर को 'अमर' बना रखने की कभी चिन्ता नहीं हुई। उन्होंने तो अपने भीतर जिस 'परम सत्य' को अनुभव किया था, उसी को 'अमर' बनाने की चेष्टा की। उनके लिए अपनी शरीर-लीला गौण थी। वे ऐसे दीप-वाहक थे जो अपने को छाया में रखकर संसार को 'प्रकाश' देते थे। लोग यह भी नहीं जान पाये कि वे कब आये और कब चले गये।

मध्यदेश में जिन नामदेव ने 'निर्गुणपंथ' का सूत्रपात किया और जिसे कबीर, नानक आदि ने प्रचारित किया, उनका भी यही हाल है। वे महाराष्ट्र के रहनेवाले थे या उत्तर भारतके, इसमें भी सन्देह है। सिक्खों के आदि ग्रन्थ में 'गुरुओं' की वाणी के अतिरिक्त जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, परमानन्द, सदन, वेणी, रामानन्द, धना, पीपा, सेना, कबीर, रैदास, मीरांबाई, शेख़ फ़रीद, भीखण, सूरदास आदि के भी पद संकलित हैं।

'आदि ग्रन्थ' का संग्रह संवत् १६६१ में किया गया माना जाता है। मराठी के कतिपय साहित्यकार 'आदि ग्रन्थ' के भक्त नामदेव और महाराष्ट्र के संत नामदेव को एक नहीं मानते और जिन नामदेव के अभंगों का महाराष्ट्र में सात सौ वर्षों से प्रचार है उनको ज्ञानदेव या ज्ञानेश्वर का समकालीन नहीं मानते। परन्तु हम भिगारकर, पांगारकर, आजगाँवकर, भावे, जोशी आदि के समान हो ज्ञानेश्वर कालीन नामदेव और 'आदिग्रन्थ' के नामदेव को अभिन्न मानते हैं। ज्ञानदेव ने अपने ग्रन्थ ज्ञानेश्वरी के अन्त में "शके बाराशों बारोत्तरें। तैं टीका केली ज्ञानेश्वरें" ओवी लिखकर अपना 'काल' असंदिग्ध कर दिया है। ज्ञानेश्वरी की रचना शके १२१२ में पूर्ण हुई है। महाराष्ट्र में 'नामदेव' नाम के छै संत कवि हो गए हैं। अतएव ज्ञानेश्वर-कालीन आदि नामदेव के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना और भी कठिन हो गया है। पूना के आवटे महाशय ने 'सकल संत गाथा' में नामदेव के अभंगों की गाथा छापी है जिसमें २५०० अभंग हैं। उसमें कमाल, मीरांबाई आदि की गाथा भी गाई गई है, जो आदि नामदेव के समकालीन नहीं थे। इन संतों की गाथा गानेवाला "विष्णुदास नामा" है, परन्तु यह ज्ञानेश्वर कालीन नामदेव से भिन्न होना चाहिए; क्योंकि आदि नामदेव शके १२७२ में समाधिस्थ हो चुके थे। उलझन में डालनेवाली बात यह है कि आदि नामदेव और मीरां, कमाल आदि के चरित्र गाने वाला नामदेव दोनों अपने को 'विष्णुदास नामा' कहते हैं और दर्जी भी। पर श्री राजवाड़े ने विष्णुदास नामा की एक 'बावन अक्षरी' प्रकाशित की है जिसमें उसने 'नामदेव राय' की वन्दना की है। 'नामदेव राय' से उसका आशय आदि नामदेव से जान पड़ता है। इस प्रकार दोनों का भिन्नत्व प्रकट हो जाता है। तीसरा नामदेव महानुभाव पंथ का है। उसने महाभारत पर ओवी बद्ध ग्रन्थ लिखा है। वह भी अपने को 'विष्णुदास नामा' कहता है। यह विवादास्पद है कि महानुभाव पंथीय नामदेव महाभारतकार है, पर वह ज्ञानेश्वरकालीन नामदेव नहीं है, यह निर्विवाद है। परन्तु हम उन नामदेव की चर्चा करना चाहते हैं जिन्होंने कबीर के पूर्व ही उत्तर भारत में भागवत-धर्म को जनता तक पहुँचाया था। वे महाराष्ट्रीय थे; नरसी ब्राह्मणीग्राम (परभणी जिला) में रहते थे। उनका काल-

निर्णय सन् १२७० से १३५० तक निर्धारित किया गया है। मेकालिफ 'सिख-रिलीजन' में लिखता है :—

"Namdeo, the Maratha Saint, wrote principally in Marathi, but he composed certain Hindi songs which are preserved in the Granth Saheb. He was a tailor by caste and is considered as one of the greatest saints of Maharashtra. His birth date is 1270 A. D. and the date of his death 1350 A. D."

डॉ. ईश्वरीप्रसाद और प्रो. रानाडे ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। उनके आधुनिक चरित्र-लेखकों के अनुसार नामदेव के पिता दामा शेट सदा 'जय विट्ठल' का उच्चारण करते रहते थे। अतएव नामदेव में बचपन से ही विट्ठल, के प्रति भक्ति उत्पन्न हो गई थी। वे प्रति वर्ष पंढरपुर की यात्रा किया करते थे, पर बाद में वहीं जाकर बस भी गये। प्रत्येक आसाढ़ी कार्तिकी को पंढरपुर में नामदेव के साथ ज्ञानदेव आदि संतों का सत्संग होता और इस तरह भक्ति का अजस्र रस प्रवाहित हो जाता। ज्ञानदेव के साथ नामदेव ने द्वारका, राजस्थान, काशी, खानदेश आदि की यात्रा की। दोनों संतों में बड़ा प्रेम था। शके १२१८ में जब ज्ञानदेव ने समाधि ली तो नामदेव ने उनके प्रति जो श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है उसमें उनकी विरह-विह्वलता स्पष्ट दीखती है। ज्ञानदेव से बिछुड़ने पर नामदेव का मन दक्षिण से उचट गया। वे अपने साथ कुछ 'वारकरियों' को लेकर मथुरा-वृन्दावन गये और वहाँ से पंजाब की ओर बढ़ गये। उत्तर भारत में अधिक समय तक रहने के कारण उन्होंने हिन्दी में भी कविता की। हरिद्वार से तीन मील के फासले पर 'नामदेव-मठ' सुना जाता है। मारवाड़ के कोलाद गाँव में 'नामदेव-कूप' है, जिसका गहरा पानी 'विट्ठल' की कृपा से सतह पर आ गया था। नामदेव ने ज्ञानेश्वर को नाम-स्मरण का यह चमत्कार दिखाया था। पंजाब के गुरुदासपुर जिले में घोमान नामक एक गाँव है, जहाँ नामदेव के पूज्य 'ठाकुर' का मन्दिर और नामदेव की पादुका संस्थापित है। इन बाह्य चिह्नों

से उनकी पंजाब तक की यात्रा का एक प्रमाण मिलता है। प्राचीन ग्रंथों में 'महीपति' का 'भक्तविजय', नरहरि मालो कृत 'भक्तकथामृत', नाभादास कृत 'भक्त-माल' आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं। प्रथम दो ग्रन्थ मराठी में हैं और अन्तिम हिन्दी में। भक्तमाल की रचना १५ या १६ वीं शताब्दी की मानी जाती है और महीपति की १७००-१८०० के मध्य। पंजाब में बाबा पूरणदास की 'नामदेव की जन्मसाखी' नामक ५५१ पृष्ठों की पोथी है।

इन भक्त-चरित्रों में भक्त की अतिशयोक्तिपूर्ण अलौकिक जीवन-गाथाओं का इस प्रकार समावेश किया जाता है कि जिससे समाज में 'भक्त' के प्रति अपार श्रद्धा पैदा हो। अतः जब तक इनमें वर्णित घटनाओं का स्वतंत्र प्रामाणिक समर्थन न मिले तब तक उनपर विश्वास करने को मन नहीं चाहता। उक्त ग्रन्थों से यही निष्कर्ष निकल सकता है कि नामदेव नीच वर्ण के होकर भी असाधारण पुरुष और परम भक्त थे; जिनपर जनता श्रद्धा रखती थी। उनके विभिन्न चरित्रों से यह भी सिद्ध होता है कि उन पर 'खेचर' नामक गुरु के उपदेशों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। अतः जो 'विट्ठल' पहले उन्हें पंढरपुर के मंदिर में ही दीखता था वह गुरु की कृपा से सर्वव्यापी हो गया।

कवि के विषय में उसके ग्रन्थों से भी जाना जाता है। अतः उसके हिन्दी पद्यों को पढ़ने से यह विदित होता है कि पंढरपुर के नामदेव ही पंजाब के नामदेव हैं, और उन्हीं ने हिन्दी में पद लिखे हैं। इस निष्कर्ष पर हम निम्न कारणों से पहुँचते हैं :—

भाव-धारा

आदि नामदेव के मराठी अभंगों की धारा हिन्दी पद्यों में भी मिलती है। हिन्दी पदों में बार-बार 'विट्ठल' शब्द मराठी अभंगों के समान ही आया है, जिससे नामदेव का पंढरपुर के 'विट्ठल' देव से सम्बन्ध व्यक्त होता है।

मराठी अभंगों में राम, केशव, नरहरि, वैकुंठपति आदि नाम हिन्दी पदों के समान ही आये हैं। हरिकीर्तन की महिमा हिन्दी-मराठी दोनों रचनाओं में पाई जाती है। दोनों भाषाओं के पद्यों में प्रह्लाद, ध्रुव, उपमन्यु, अजामिल, गणिका, पूतना, अहल्या, द्रौपदी नाम बराबर आते हैं।

जाति

हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं के पद्यों में कवि ने अपनी जाति का उल्लेख किया है :—

(१) **"हीनड़ी जात मेरी, जादम राइया।**
छीपे के जनम काहे कउ आइया।" (आदि ग्रंथ)

(२) **"मन मेरो गजु जिह्वा मेरी काती।**
मपि मपि काटउ जम की फाँसी।"

(इसमें कवि ने अपने पेशे के अनुरूप ही रूपक बाँधा है।)

मराठी में "आम्ही दीन शिंपी हों जाति हीन" कहा गया है।

पंजाब, राजस्थान और मध्यभारत में 'छीपा' रँगरेज कहलाते हैं। इसी आधारपर कोई यह सन्देह करते हैं कि महाराष्ट्र को 'शिंपी' पृथक् जाति है। पर वास्तव में दोनों जातियाँ ही एक नहीं हैं, शब्द भी एक है। 'शिंपी' का 'श' उसी प्रकार 'छ' बन जाता है जिस प्रकार 'षष्ठी' का 'ष' 'छ' बन गया है। अतः हिन्दी पद्यकार नामदेव अपने को 'छीपा' लिखकर भी महाराष्ट्रीय बने रह सकते हैं।

घटनाओं की समानता

'विठोबा' की मूर्ति का नामदेव के हाथ से दूध पीना, झोपड़ी की 'छान' का भगवान् द्वारा छाना, और मृत गाय को सुलतान के आगे जिलाने की घटनाओं का उल्लेख हिन्दी और मराठी पद्यों में एक-सा पाया जाता है। उत्तर भारत में 'आदि ग्रन्थ' के नामदेव के विषय में यह कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि उसका किसी स्थान में स्वतंत्र अस्तित्व था; उसकी पंढरपुर के नामदेव से अभिन्नता ही कही जाती है।

जब नामदेव और ज्ञानदेव समकालीन सिद्ध हो जाते हैं तब नामदेव का कबीर के पूर्व ईसा की १३वीं–१४वीं शताब्दी में होना निश्चित हो जाता है।

नामदेव का वारकरी पंथ और नाथ-सम्प्रदाय

नामदेव ने जिस 'निर्गुण-पंथ' का उत्तर भारत में प्रचार किया था, वह महाराष्ट्र में वारकरी-पंथ या भागवत-सम्प्रदाय कहलाता है। 'वारकरी पंथ'

को वेद प्रामाण्य और वर्णव्यवस्था दोनों तत्त्व मान्य हैं पर कर्मकाण्ड से पृथक् रहकर उसने सर्वसुलभ भक्ति-मार्ग का आश्रय लिया। उसने बाह्य की अपेक्षा अंतरंग पर विशेष ज़ोर दिया। उसकी विशेषता यह है कि उसमें सभी धर्मों का समावेश हो जाता है; अमीर से लेकर गरीब तक; ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सभी को उसमें स्थान है पर उच्च-नीच तथा उदासीनता-निराशा को स्थान नहीं है। स्त्री-पुरुष सभी के लिए उसका द्वार खुला हुआ है। यद्यपि वारकरी संतों ने पंढरपुर के विट्ठल-दर्शन के लिए यात्राएं कीं, पर वे अपनी परम्परा 'विट्ठल' से नहीं मानते। इस पंथ के प्रसिद्ध संत ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ तुकाराम हैं। ज्ञानदेव की ज्ञानेश्वरी में 'विट्ठल' का नाम तक नहीं है। सच बात तो यह है कि वे अपने 'विट्ठल' को सब प्राणियों में देखते थे। नामदेव कहते हैं—

"इभै वीठल, ऊभै 'वीठल',
'वीठल' बिन संसार नहीं।"

एक मराठी टीकाकार ठीक कहते हैं—

"महाराष्ट्र संत हे केह्वां हि द्वैती नह्वते, अद्वैत भक्तीचें पूर्ण सुख भोगणारे आहेत।"

(महाराष्ट्र संत कभी द्वैतवादी नहीं रहे वे अद्वैत भक्ति का पूर्ण सुख भोगने वाले हैं)

उनकी दृष्टि में भक्ति और मुक्ति, सगुण और निर्गुण दोनों एक रूप हैं। एकनाथ ने इसे 'आनन्दवनभुवन' कहा है।

महाराष्ट्र में वारकरी या भागवत-संप्रदाय का प्रारंभ कब हुआ, इस सम्बन्ध में महाराष्ट्रीय साहित्यकार कोई निर्णय नहीं कर पाये। पर यह तो स्पष्ट ही है कि इसपर रामानुज के भागवत मत का बहुत कम प्रभाव पड़ा है—जहाँ वह 'द्वैतवादी' है वहाँ यह अद्वैत तत्त्वपर आधारित है। इस पर निश्चय ही नाथ-सम्प्रदाय का गहरा प्रभाव पड़ा है। नाथ-पंथ का उद्गम उत्तर भारत में हुआ पर उसका विस्तार समस्त देश में हो गया था। हम डॉ० ईश्वरीप्रसाद के

मत से सहमत नहीं हैं कि नामदेव पर मुसलमानी प्रभाव पड़ा है। वारकरी-पंथ के सन्तों की गुरु-परम्परा का 'वृक्ष' नीचे दिया जाता है—
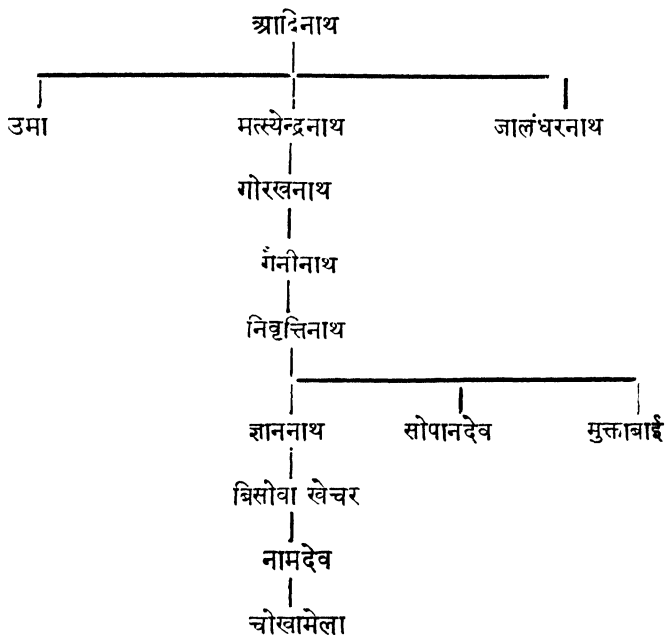
भावे के अनुसार बिसोवा खेचर ज्ञाननाथ के नहीं, सोपानदेव के शिष्य थे।

गोरखनाथ को महाराष्ट्र में नाथ-मत के प्रचार का श्रेय दिया जाता है। मराठी में गोरखनाथ का 'अमरनाथ संवाद' नामक ग्रन्थ है जिसके दृष्टांत और प्रतीक 'ज्ञानेश्वरी' के उदाहरण और प्रतीक से बिलकुल मिलते हैं। नामदेव के गुरु 'खेचर' प्रसिद्ध नाथ पंथी थे। इस पंथ के बाह्य चिह्न है :

"शैली, शृंगी, कंथा, झोली, विभूति लगाया तन मो।
कोटिचंद्रका तेज झुलत है, चली आपने गत मो।"

(मेखला, शङ्गी, कंथा, कर्णमुद्रा, कौपीन, पुंगी, व्याघ्राम्बर, खड़ाऊँ

और झोली के साथ कान छिदाना भी इनका बाह्याचार है। इसीसे इनको 'कनफटा' भी कहते हैं। भिक्षा के समय एकतार बजाते और 'अलख निरंजन' कहते हैं। भोजन के पूर्व पुंगी बजाकर भोजन करते हैं। ये मूर्तिपूजा कर्मकाण्ड, तीर्थ, व्रत एवं ऊँच-नीच-भेद को तीव्र निन्दा करते हैं। वारकरियों ने नाथ-मत की आभ्यन्तर धारा को अपनाकर गृहस्थाश्रम में ही भक्ति की सहज-साधना का प्रचार किया।

नामदेव कहते हैं—

"आनीले कागद, काटीले गूडी आकास मधे भरमी अले
पंचजना सिउ बात बतउ आ, चीत सु डारी राखी अले।
मनु राम नाम बेधी अले।
आनीले कुंभ भराइले ऊदक, राजकुआरि पुरंदरीए,
हसत विनोद विचार करति है, चितुसु गागरि राखी अले।
मंदरु एकु दुआर दस जाके, गऊ चरावन छाड़ी अले।
पाँच कोस पर गऊ चरावत, चीतसु बछुरा राखी अले।
कहत नामदेव सुनहु तिलोचन, बालकु पालन पउढ़ी अले।
अंतरि बाहरि काज बिरूधी, चीतसु बारिकि राखी अले।"

तीर्थ—स्नान की अनावश्यकता पर नामदेव कहते हैं—

"तीरथ देखिन जल महि पैसड, जीअ जंत न सतावउगो,
अठसठि तीरथ गुरू दिखाए, घट ही भीतर नाउगो।"

बंगाल का 'सहजिया-सम्प्रदाय' महाराष्ट्र का वारकरी पंथ ही जान पड़ता है। दोनों का मूल नाथ-पंथ में है।

ज्ञानदेव ने वारकरी पंथ को महाराष्ट्र से आगे नहीं बढ़ाया। नामदेव ने उसका उत्तर भारत में प्रचार कर कबीर, नानक, रैदास आदि संतों के लिए 'निर्गुण-पंथ' की भूमि तैयार की। पर ज्ञानदेव नामदेव ने जिस मत को जनता में प्रतिष्ठित किया था उसका बीज आठवीं सदी में ही योगी सिद्ध-नाथ बो चुके थे।

"किन्तह तित्थ तपोवण जाई।
मोक्ख कि लब्भइ पाणी न्हाई।"—सरहपाद (७६० ई०)

नामदेव कहते हैं :—

कोटिज तीरथ करै, तनुज अहिवालै गारै
राम नाम सरि तऊ न पूजै।

और भी—

"वेद पुरान सासत्र अनंता, गीत कवित्त न गावउ गो।"

सिद्ध भी सहज पंथ को मानते थे—'भोग-भूमि' में ही वे मोक्ष-निर्वाण का सुख अनुभव करते थे। उन्होंने 'काया-तीर्थ' की प्रतिष्ठा की थी। गुरु-महिमा की स्वीकृति भी वारकरी पंथ में सिद्ध-नाथों से प्रविष्ट हुई थी।

नामदेव का कबीर आदि निर्गुणियों पर प्रभाव

'कबीर' 'निर्गुनियां' के सिरमौर कहे जाते हैं। पर उनमें 'ज्ञानियों' जैसी रुक्षता नहीं है। वे भक्त की सहृदयता रखते हैं। कभी अपने 'राम' की 'बहुरिया' बनते हैं, कभी उसे नामदेव के समान 'मा' भी सम्बोधित करते हैं। ऐसा लगता है, वे उसके सगुण-रूप पर भी मुग्ध हैं! कबीर कहते हैं—

"राम मेरा पिउ, मैं राम की बहुरिया"

नामदेव भी यही कहते हैं—

"मैं बहुरी मेरा भतार।"

महात्मा चरनदास की वाणी है—

"पीव चाहो कै मत चहो, वह तौ पी की दास।"

महात्मा चरनदास ने भी अपना परमात्म सम्बन्ध नामदेव के समान ही 'पिय हमरे हम पिय की पियारी।' स्थापित किया है।

कबीर में गुरु-महिमा का बड़ा बखान किया गया है। नामदेव ने भी 'सद्गुरु भेटला देवा।' 'ज्ञान अंजन मोको गुरु दीना' आदि में गुरु की स्तुति की है। गुरु के ज्ञान से 'नर ते सुर होइ जात निमिख में सति गुरु बुधि सिखलाई।'

गुरु के प्रसाद से सब कुछ संभव है—

जउ गुरुदेव त मिलै मुरारि
जउ गुरुदेव त उतरै पारि
जउ गुरुदेव त बैकुंठ तरै
जउ गुरुदेव त जीवन मरैं।"

"गुरु के सबदि एहु मन राता दुविधा सहज समाणी"

नामदेव के समान कबीर ने भी अनुभव किया है कि गुरू में 'नर' को 'नारायण' बना देने की क्षमता है—

"बलिहारी गुर आपणै द्यों हाड़ी कै बार
जिनि मानष तैं देवता करत न लागी बार।"

कबीर ने तो 'गुरु' को 'गोविन्द' से भी अधिक महत्व दिया है।

"गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागौं पाय।
बलिहारी गुरु आपकी जिन गोविंद दियो बताय।"

जैसा हम पहिले कह आये हैं कि गुरू-महत्त्व कबीर या नामदेव की अपनी ही स्वीकृति नहीं है, उसकी स्थापना आठवीं शताब्दी में सिद्ध कवि सरहपा भी कर चुके हैं—

"गुरु उबएसे अमिअ-रस, धाव ण पीअउ जेहि
बहु सत्थत्थ मरुथलहिं, तिसिए मरिअइ तेहि।"
"चिअ मण सब्बे सोहिअ जब्बे
गुरु-गुण हिअए पइसइ तब्बे।"

कबीर के बाद नानक, चरनदास, धरमदास, सहजो, रमाबाई, रैदास सभी 'सत्यगुरु' के आगे नत मस्तक होते हैं—

"गुरु मोहि खूब निहाल कियो।
बूड़त जात रहे भवसागर, पकरि के बाहिं लियो।"—धरमदास
"मैं मिरगा, गुरु पारधी, सबद लगायो बान।
चरनदास घायल गिरै, तन मन बीधे प्रान।"—चरनदास

"गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्हीं
तिन्ह यह जुगुति पिछानी।
नानक लीन भयो गोविन्द सों,
ज्यों पानी सँग पानी॥"—नानक

नामदेव ने एक स्थल पर कहा है—

'कामी पुरख कामिनी पिआरी।
ऐसे नामे प्रीति मुरारी।'

तुलसी ने भी इसी भाव की पुनरावृत्ति की है। योग की इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की कबीर ने चर्चा की है। नामदेव में भी उनका उल्लेख है—

"इड़ा पिंगुला अउरु सुखमना,
पउनै बंधि रहाउ गो।
चंदु सूरजु दुइ सम करि राखउ
ब्रहम जोति मिलि जाउगो।"

नाम-महिमा भी नामदेव में भरी पड़ी है। उनके बाद के सभी ज्ञानाश्रयी और भक्त कवियों में हम इसे पाते हैं।

'गगन मंडल' की वर्षा से कबीर का भीगना प्रसिद्ध है। वे कहते हैं—

"गगन गरजि मध जोइये, तहाँ दीसै तार अनंत रे।
बिजुरी चमकि घन वरषि है, तहाँ भीजत हैं सब संत रे॥"

नामदेव कहते हैं—

"अड़मड़िया मंदलु बाजै,
बिनु सावण अनहत गाजै।
बादल बिनु बरखा होई।
जउ ततु विचार कोई।
मोकर मिलिओ राम सनेही।"

कबीर के समान नामदेव को भी 'अनहद नाद' की मधुर ध्वनि की अनुभूति होती थी—

"धनि धनि ओ राम बेनु बाजै।
मधुर मधुर धुनि अनहद गाजै।"

हिन्दू-मुसलमानों की कट्टरता को नामदेव ने 'कबीर' से पहले कोसा है। भगवान को उन्होंने मंदिर-मस्जिद में नहीं, अपने में ही देखा है—

"आजु नामे विठलु देखिआ,
मूरख को समझाऊ रे।
पांडे तुम्हारी गायत्री, लोधे का खेतु खाती थी।
लैकरि ठेगा टँगरि तोरी, लांगत लांगत जाती थी।
....
हिन्दू अना तुरकू काणा, दुहान गिआनी स्याना
हिन्दू पूजै देहुरा, मुसलमाणु मसीत,
नामे सोइ् सेविआ जह देहुरा न मसीत।"

'कबीर' भी पाँडे जी पर टूटते हैं—

"तू राम न जपहि अभागी।
बेद पुरान पढ़त अस पाँडे, खर चंदन जैसे भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं, अंति पड़ै मुखि छारा।"

'मुल्ला' भी उनसे नहीं बच पाये :—

"काजी कौन कतैब बषानैं,
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति कै नाहीं जानै।"
'मुलां कहाँ पुकारै दूरि, राम रहीम रह्या भरपूरि'
यहु तो अल्लह गूँगा नाही, देखै खल कटती दिल माही।

नामदेव में 'विरह' की पीड़ा की मात्रा 'कबीर' से अधिक तो नहीं है पर मर्मभेदी अवश्य है—

"मोहि लागती तालावेली, बछुरे बिनु गाइ् अकेली।
पनीआ बिनु मीनु तलफै।
ऐसे रामनाम बिनु वापरो नामा, जैसे तापते निरमल घामा।
तैसे रामनाम बिनु बापरो नामा"

बहुदेवोपासना की नामदेव निन्दा करते हैं—

"भैरव भूत सीतला धावै, खर वाहन उहु छार ऊड़ावै ।

हउतउ एकर मइआ लैहऊ ।"

'पाहन' पूजने का भी निषेध नामदेव ने किया है—

"एकै पत्थर की जै भाऊ । दूजै पाकर धरिये पाऊँ ।

जे ओहू देउ त ओहु भी देवा । कहि नामदेव हम हरि की सेवा ।"

कबीर का यह दोहा प्रसिद्ध है—

"पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजों पहार ।

ताते यह चाकी भली, पीस खाय संसार ॥"

कबीर ने जैसे 'हिजड़ा' आदि शब्दों से पुराणपंथियों की पूजा (?) की है उसी प्रकार नामदेव भी उन्हें 'दोगला' से स्मरण करते हैं—

"राम रसायन पीऊ रे दगरा ।"

शब्द-प्रयोग

नामदेव ने कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो प्रायः सभी ज्ञानाश्रयी संत कवियों की रचनाओं में पाये जाते हैं । वे हैं 'खसम', भरतार, निरंजन वीठुला, सुन्न (शून्य) । 'खसम', भरतार और निरंजन शब्द हमें सातवीं शताब्दी में सरहपाद की रचनाओं में भी मिलते हैं । "खसम" शब्द का प्रचलित अर्थ पति है, जो अरबी से ग्रहण किया गया है । इसकी विवेचना पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में की है । उन्होंने ख = आकाश, सम = समान, अर्थ लेकर यह प्रतिपादित किया है कि मन की वह अवस्था जो सगुण-निर्गुण से परे है ।

सिद्ध सरहपाद ने आठवीं शताब्दी में ख—सम का प्रयोग किया है और वह संभवतः उसी अर्थ में है जिसकी ओर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इङ्गित किया है—

"सब्ब रूअ तहि खसम करिजइ

खसम सहावे मण वि धरिज्जइ ।"

सरहपाद का आशय है कि सब रूपों—निर्गुण-सगुण—दोनों को आकाश सम कर दीजिए। मन को आकाश (शून्य) बना लीजिए।

इसका यही अर्थ हो सकता है, मन को रूप, अरूप, सुख, दुख सबसे रहित बना डालिए। सम-भाव धारण कर लीजिये।

सरहपाद बौद्ध थे। अतः संभव है, उन्होंने महायान दार्शनिकों की परिभाषा में ही "ख" (शून्य) का व्यवहार किया हो। पर नामदेव-कबीर आदि ने भी इसी अर्थ में उसका प्रयोग किया है, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है।

'भतार' शब्द का प्रयोग भी सरहपाद में मिलता है—

एक्कु खाइ अवर अवरण बि पोड़इ, बाहिर गइ भत्तारह लोड़इ।'

स्पष्ट है कि यहाँ 'भत्तार' पति के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। 'निरंजन' को नामदेव ने 'निर्मल' के अर्थ में प्रयुक्त किया है और 'ब्रह्म' के अर्थ में भी।

कबीर में 'निरंजन' खास प्रकार के 'जोगियों' के लिए संभवतः प्रयुक्त हुआ है—

"कहै कबीर जो हरि-रस भीगे,
ताकूं मिल्या निरंजन जोगी।"

'वीठुला' या 'विट्ठल' शब्द का प्रयोग नामदेव ने पंढरपुर के विट्ठल और व्यापक ब्रह्म दोनों अर्थों में किया है। इसकी उत्पत्ति विष्णु शब्द से हुई है। नामदेव ने इसको उत्तर भारत में प्रचलित किया है जो व्यापक अर्थ में संतों द्वारा प्रयुक्त हुआ है। नामदेव के समकालीन त्रिलोचन ने उसका प्रयोग किया है—

"मिलु मेरे वीठुला, लै बाहड़ी वलाई।"

कबीर भी कहते हैं—

(१) **"मन के मोहन वीठुला, बहुमन लागौ तोहि रे,**
चरन कँवल मन मानियाँ, और न भावै मोहि रे।

(२) **गोकल नायक वीठुला मेरो मन लागौ तोहि रे।"**

गुजरात के नरसी मेहता अपने श्रीकृष्ण-बिहार में लिखते हैं—

"विट्ठल रह्यो रे बसी। मारे मन विट्ठल रह्यो रे बसी।"

'विट्ठल' शब्द का व्यापक अर्थ-प्रयोग देखकर ही कोई नामदेव को महाराष्ट्रीय न होने की दलील भी पेश करते हैं। पर वे यह भूल जाते हैं कि विट्ठल को व्यापक बनाने वाले पंढरपुर के नामदेव ही थे। उनसे पूर्व इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता।

नामदेव की भाषा

नामदेव की भाषा में कोई साहित्यिक रूप-व्यवस्था नहीं मिलती। वे सबसे पहिले संत थे, और बाद में भी। उन्होंने अपने हृदय की सहज भक्ति को सहज शब्दों का रूप दिया—वे उसे सजाने सँवारने के लिए नहीं रुके। उसे हम पं० रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में सधुक्कड़ी भाषा कह सकते हैं। उसमें प्रांतीय और अरबी-फारसी शब्दों का समावेश है। वर्तमान मराठी के प्रत्यय चा, '*ळा*' भी उनके हिन्दी पद्यों में यहाँ वहाँ प्रयुक्त हुए हैं। पर इससे उनकी भाषा में मराठी की खिचड़ी हो गई है, इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। '*ळा*' का रूप भूतकाल में पूर्वी हिन्दी में उस समय भी था और आज भी है—

"जंगल जाय जोगी धनिया रमौले
काम जराय जोगी बनि गेले हिजरा"—कबीर (१५ वीं शताब्दी)
"ई कुल बतियाँ कबहुँ नहिं जनलीं
खेलत रहलो अँगनवाँ हो।" जयशंकरप्रसाद (सन् १९३२)

'चा' प्रत्यय भी तत्कालीन राजस्थानी भाषा में 'का' के अर्थ में व्यवहृत होता था। 'वेली किसन रुक्मिणी रीया' में जिसकी रचना पृथ्वीराज ने विक्रम १६३७–३८ में की है, चा प्रत्यय मिलता है—

"कुण जानै संगि हुवा केतला
देस देस चा देसपति"

नामदेव मारवाड़ में काफी समय तक रहे थे। अतः उनके पद्यों में 'चा' का प्रत्यय 'आ' जाने से उनकी भाषा में मराठीपन नहीं देखा जा सकता। केवल

'चा' प्रत्यय ही आधुनिक हिन्दी इतिहासकारों को अटपटासा लगता है। संतों को तो अपना मत बहुजन समाज में प्रचलित करना अभीष्ट था। अतः उन्होंने बहुजन सम्मत भाषा को ही अपनाया। नामदेव की भाषा एक प्रकार से लोक भाषा है। उससे पता चलता है कि खड़ी बोली का वर्तमान बोलचाल का रूप भी उस समय प्रचलित था।

नामदेव के हिन्दी पद्य

नामदेव के पद्यों का संकलन पूना से प्रकाशित 'सकल संत गाथा' में किया गया है। उसमें उनकी कुल संख्या १०२ है। सिक्खों के ग्रन्थ साहब में उनके ६१ पद्य संगृहीत हैं।

उनमें उनके वारकरी-पंथ सिद्धान्तों का प्रतिपादन मात्र है। कबीर की तरह उनमें "नैया बिच नदिया डूबी जाय" जैसी 'उलटबासियाँ' नहीं है। उनकी अभिव्यक्ति बहुत ही बोधगम्य है। उनके पदों में जहाँ रूपक, उपमा, दृष्टांत आदि अलंकार आये हैं वहाँ वे काव्य के सौन्दर्य के लिए नहीं; उनकी अनुभूति को स्पष्ट करने के लिए हैं। उनका हिन्दी संत कवियों में यही महत्त्व है कि उन्होंने उन्हें वह 'प्रकाश' दिखाया जिसके सहारे उन्होंने अपना मार्ग खोजा और अपने 'भगवान्' की 'रूप' तथा 'नाम' प्रतिष्ठा की।

---

१८. महाराष्ट्र-संतों की हिन्दी-सेवा

महाराष्ट्र में हिन्दी-प्रवेश का श्रेय सन्तों को है। मध्य-युग में वहाँ दो प्रमुख धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित थे—एक महानुभाव पंथ और दूसरा नाथ अथवा वारकरी-पंथ। महानुभाव-पंथ के संस्थापक चक्रधर माने जाते हैं, जो गुजरात से दक्षिण आये थे; नाथ अथवा वारकरी पंथ उत्तर-भारतीय नाथ-सन्तों[1] से अनुप्राणित रहा है। नाथ-सम्प्रदाय का प्रचार महाराष्ट्र में आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के द्वारा हुआ। वारकरी-संत अपनी गुरु-परम्परा इन्हीं से लेते हैं। यह नीचे दिये हुए वृक्ष से स्पष्ट है :—
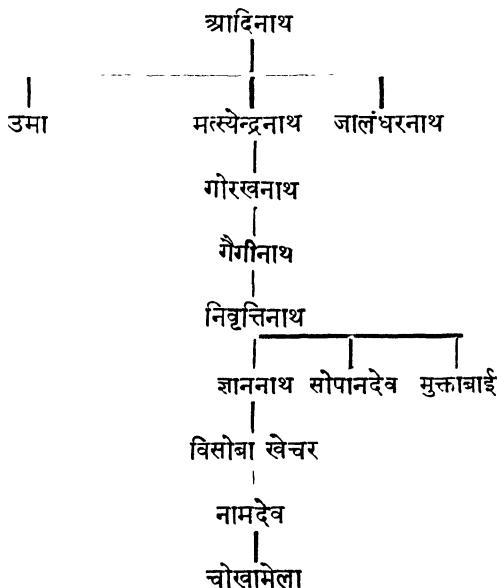
[1]नाथों में गोरखनाथ बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म-स्थान निश्चित

वारकरी सन्तों ने अपने गुरुओं-नाथों-की वाणी को आत्मसात् करने के लिए स्वभावतः हिन्दी भाषा से परिचय प्राप्त किया और जब उन्होंने उत्तर-भारत की यात्रा की तो वहाँ जन-भाषा में भी अपनी वाणी गुंजरित की।

महानुभाव-पंथ का जन्म लगभग दसवीं शताब्दी माना जाता है और वारकरी-पंथ के प्रारम्भ के सम्बन्ध में मराठी साहित्यकारों में मतभेद है, पर उसके प्रसिद्ध संत ज्ञानदेव और नामदेव का काल १३वीं शताब्दी अनुमाना जाता है। महानुभाव पंथ विदर्भ में आविर्भूत होकर महाराष्ट्र तक ही नहीं फैला, वह उत्तर भारत की सीमा पार कर काबुल तक छा गया था। अतएव उसके सन्तों ने व्यापक भाषा हिन्दी को बहुत पहले अपना लिया था। चक्रधर और उनके शिष्यों की हिन्दी रचनाएँ उपलब्ध हैं। इस निबन्ध में हम उक्त दोनों सम्प्रदायों के सन्तों की हिन्दी वाणी की बानगी प्रस्तुत कर यह कहना चाहते हैं कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में इन सन्तों ने सदियों पूर्व स्वीकार कर लिया था। जिस प्रकार स्वामी दयानन्द ने अपने मत को देशव्यापी बनाने के लिये प्रांत भाषा गुजराती की अपेक्षा हिन्दी को अपनाया उसी प्रकार जिन महाराष्ट्रीय संतों ने महाराष्ट्र की सीमा लांघी उन्होंने हिन्दी को ग्रहण किया।

चक्रधर—(शक संवत् ११९४)—ऊपर कहा जा चुका है कि ये महानुभाव पंथ के प्रथम प्रचारक माने जाते हैं। इनकी हिन्दी वाणी का एक उदाहरण देखिए :—

सुती वंथी स्थिर होई जेणे तुम्ही जाई।
सो परो मोरो वैरी आणता काई॥

उमाम्बा—यह महानुभाव-पंथी नागदेवाचार्य की बहिन थी। नागदेवाचार्य चक्रधर के शिष्य माने जाते हैं। उमाम्बा का काल भी चक्रधर का काल समझा जाना चाहिए। उमाम्बा ने भी हिन्दी में चौपदी लिखने का प्रयास किया है :—

नहीं है पर इतना निश्चित है कि ये उत्तर भारतीय थे और इन्होंने उत्तर तथा दक्षिण भारत की यात्राएं कर अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया—मठ स्थापित किये।

नगर द्वार हो भिच्छा करो हां बापुरे मोरी अवस्था लो ।
जिहा जावों तिहा आप सरिसा कोऊ न करी मोरी चिंता लो ॥
हाट चौहाटा पड़ रहूँ माँग पंच घर भिच्छा ।
वापुड लोक मोरी अवस्था कोऊ न करी मोरी चिंता लो ॥

कृष्णमुनि—ये महानुभाव पंथी संत हैं। इनके द्वारा ही पंजाब में इस पंथ का प्रचार हुआ है। इनकी कविता का नमूना—

जड़ मूल बिन देखा एक दरखत गूलर का ।
उसको अनंत अपार गूलर लागे शुमार नहीं फूलों का ।
ज़मीन आसमान बराबर देखे—दो सूरज चन्दा देखे नौ लख ता में
चौदह भुवन सातों दरयाव मेरू परवत नदी नाले कई हजार ।

ज्ञानेश्वर—ये महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत हैं। इनका जन्म सं० १३३२ विक्रम में गोदावरी के निकट आपेगाँव में हुआ था। नाथ-सम्प्रदाय में ज्ञानेश्वर की बड़ी महिमा है। इन्होंने अपने उपदेशों में गुरु-भक्ति, ईश्वर-भक्ति और लोक-व्यवहार पर अधिक आग्रह प्रकट किया है। इनकी 'ज्ञानेश्वरी' की यही विचार-धारा है। आध्यात्मिक उन्नति के लिए जप-तप, संयम आदि से भी अधिक गुरु के अनुग्रह को उन्होंने महत्त्व दिया है। ज्ञानेश्वर ने भी महाराष्ट्र से बाहर उत्तर की यात्रा की थी। मराठी के अतिरिक्त हिन्दी में भी इनकी वाणी मिलती है, जिसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

सोई कच्चावे, नहीं गुरु का बच्चा ।
दुनिया तज कर खाक रमाई, जा कर बैठा वन मों
खेचरि मुद्रा वज्रासन मों, ध्यान धरत है मन मों ।
तीरथ करके उम्मर खोई, जागे जुगति मों सारी ।

× × ×

हुकुम निवृति का ज्ञानेश्वर को तिनके ऊपर जाना
सदगुरु की कृपा भई जब, आपहि आप पिछाना ।

मुक्ताबाई—ये ज्ञानेश्वर की बहिन थीं और अपने भाई के साहचर्य से

संत-मार्ग में प्रविष्ट हुई थीं। इसी से ये अपने भाई को गुरु भी मानती थीं। इनकी वाणी में स्त्री-सुलभ माधुर्य पाया जाता है। भक्ति, ज्ञान, योग, वैराग्य पर इनके मराठी में सुन्दर पद मिलते हैं। हिन्दी में भी इनकी रचना पायी गयी है—

वाह-वाह साहबजी सद्गुरु लाल गुसाईं जी।
लाल बीच मों उद्‌ला काला ओंठ पीठ सों काला
पीत उन्मनी भ्रमर गुफा रस झुलने वाला।
सद्गुरु चेले दोनों बराबर एक दस्त मों भाईं।
एक से ऐसे दर्शन पाये महाराज मुक्ता बाई।

नामदेव—ये सं० १३२७ विक्रम में सतारा जिले के नरसी ब्रमनी गाँव में उत्पन्न हुए थे। यद्यपि नामदेव की भक्ति पंढरपुर के विट्ठलदेव से प्रारंभ होती है तो भी उसका परिपाक निर्गुण रूप में हुआ। पंढरपुर के सगुण-रूप 'विट्ठल' नामदेव के हृदय में निर्गुण ब्रह्म बन कर छा गए। नामदेव उत्तर भारत में कबीर के पूर्व निर्गुण मत का बीज बो चुके थे। इन्होंने पंजाब तक धार्मिक अभियान किया था, जहाँ इनके अनुयायियों की पर्याप्त संख्या आज भी विद्यमान है। सिक्खों के ग्रन्थ साहब में इनके अनेक पद संगृहीत हैं। मराठी में तो इनके अभंगों की धूम है ही। इनके हिन्दी पदों का एक उदाहरण दिया जाता है—

ऐसे रामराइ अंतरजामी, जैसे दरपन माहि बदन परवानी
बढ़े घटावट लोप न छीपै, बंधन मुकताजातु न दीसै।
पानी माहि देखु मुखु जैसा, नामे को सुआमी बीठलु ऐसा॥

कबीर के समान नामदेव ने 'पाहन पूजन' का भी निषेध किया है—

एकै पत्थर कीजै भाऊ
दूजै पा कर धरिए पाऊँ
जे ओहु देव त ओहु भी देवा
कहि नामदेव हम हरि की सेवा॥

कबीर कहते हैं—

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चाकी भली, पीस खाय संसार॥

कबीर के समान गुरु-महिमा पर भी नामदेव कहते हैं—

बलिहारी गुरू आपणे ज्यों हाड़ी कै बार
जिनि मानष तैं देवता, करत न लागी बार॥

भानुदास—ये महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत एकनाथ महाराज के प्रपितामह थे। इनका काल सं० १५५५ वि० निश्चित है। इनकी मधुर प्रभाती का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

उठहु लाल मात कहे, रजनी को तिमिर गयो,
मिलत बाल सकल ग्वाल, सुन्दर कन्हाई
जागहु गोपाल लाल, जागहु गोविन्द लाल
जननि बलि जाई।
संगी सब फिरत बयन, तुम बिन नहिं छुटत धेनु,
तजहु सपन कमल नयन, सुन्दर सुखदाई।
मुख ते पट दूर कीजो, जननी को दरस दीजो,
दधि खीर माँग लीजो, खाँड औ मिठाई।
झमल झमल श्याम राम, सुंदर मुख तव ललाम,
थाली की जूठ कछु 'भानुदास' पाई।

एकनाथ—ये हिन्दी के अमर कवि तुलसीदास के समय में आविर्भूत हुए थे। इनका जन्म पैठण में सं० १५८६ वि० में हुआ था। ये भानुदास के पौत्र थे। आरम्भ में ये दत्तात्रय के उपासक थे; बाद में भागवत धर्म में इनकी इतनी अधिक आस्था बढ़ी कि ये 'बाल भागवत' के नाम से अभिहित हुए। 'भावार्थ रामायण' इनका सब से बड़ा ग्रंथ है; जो ४० हजार पदों में लिखा गया है। एकनाथ काशी में बहुत समय तक रहे। अतः उनकी बहुत सी हिन्दी रचनाएँ भी पायी जाती हैं, जिसकी एक बानगी नीचे दी जाती है—

देव छिनाल का छिनाल का।
खेल खिलाती बांका ।।
छंद बड़ा सुरवर को बाँटा
जाकर झरोके में बैठा

× × ×

एकनाथ का वाली
उसे कौन देवे गाली।

तुकाराम—ये बारकरी पंथ के प्रसिद्ध संत हैं। इनका जीवन तुलसीदास के चरित्र से मिलता-जुलता है। इनका काल १४९० शके है। इनकी हिन्दी रचना का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

तुका बड़ो वह ना तुले, जाहि पास बहु दाम।
बलिहारी वा बदन की, जेहिते निकसे राम ।।

तुका कह जगभ्रम परा, कहा न मानत कोय।
हाथ परेगा काल के, मार फेरि है डोय ।।

कान्होबा—ये तुकाराम के भाई थे। इनकी हिन्दी रचना का यह उदाहरण है—

चुरा चुरा कर माखन खाया, ग्वालिन का नंदकुमार कन्हैया।
काटे बड़ाई दिखावत मोही, जानत हूँ प्रभु मन तेरा सब ही ।।
और बात सुन ऊखल सो गला बांध लिया तूने अपना गोपाला।
फिरता बन बन गाय चरावत, कहे तुकया बंधु लकरी ले ले हाथ ।।

जनी जनार्दन—ये एकनाथ जी के गुरु-भाई थे। उनका काल शके १५२३ है। इनकी हिन्दी रचना इस प्रकार है—

जब तू आया, तब क्या लाया, क्या ले जावेगा।
किनने बुलाया, झूठा धंधा, पड़िया फंदा, देखते क्या हो अंधा
कहत जनार्दन सुन अरे मन, न छोड़ उस साईं के चरन ।।

समर्थ रामदास—शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास की वाणी से महाराष्ट्र का अणु-अणु गुंजरित है। इनके अमर ग्रन्थ 'रामदास बोध' का घर-घर पाठ किया जाता है। इन्होंने समस्त भारत में भ्रमण कर राष्ट्र-धर्म-प्रचारक मठ स्थापित किये। इनकी एक हिन्दी रचना निम्न-प्रकार है—

चातुर चतुर को चटकारे।
रसिक वचन जन दरशन मन में ऊबज लगत चटकोर

रामदास तथा उनके साथी चार साधु समष्टि रूप से पंचायतन कहलाते हैं। उनमें केशव स्वामी और रंगनाथ स्वामी ने हिन्दी रचनाएँ की थीं।

मानसिंह—ये शिवाजी के समकालीन नाथपंथी संत हैं। इनका हिन्दी रचना का यह नमूना है—

बिगरी कौन सुधारे, नाथ-बिन बिगरी कौन सुधारे ?
बनी बने का सब कोई साथी बिगरी काम न आवे रे॥

दया बाई—ये समर्थ रामदास की शिष्या थीं। इन्होंने भी हिन्दी-रचना की है—

बाग रंगेली महल बना है।
महल के बीच में झूलना पड़ा है
इस झुलने पर झूलो रे भाई
जनम मरण की याद न आई
दासी दया कहे गुरु भैया ने
मुझ को झुलाया सोही झुलावे॥

सोहिरोबा नाथ—इनका जन्म शके १६३६ में हुआ था। उनकी हिन्दी रचना की कतिपय पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

अवधूत, नहीं गरज तेरी, हम बेपरवाह फकीरी।
तू है राजा, हम हैं जोगी, प्रथक पंथ का न्यारा।
छत्रपती सब तेरे सरीखे, पांउन पेर हमारा॥

फौजबंद तुम, झोलाबंद हम चार खूँट जागीरी।
तीन काल में हुआए, फिरती घर घर अलख पुकारी ॥
सोना चांदी हमें न चाहिये, अलख भुवन के बासी।
महल मुलक सब पशम बराबर हम गुरु नाम उपासी ॥
तूही डूबे हमें डुबावे, तेरा हम क्या लिया।
कहे सोहिरा, सुनी मुहाद जी प्रकाश जोग गँवाया ॥

ये अलमस्त संत ग्वालियर राज्य के संस्थापक महाद जी सेंधिया से रुष्ट हो गये थे, जिसकी प्रतिछाया उपरि-लिखित पंक्तियों में दिखाई देती है।

देवनाथ — ये विदर्भ-निवासी संत थे। इनका काल सन् १७५४ माना जाता है। इनकी हिन्दी रचना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। उदाहरणार्थ निम्न-पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं —

आज मोरी सांवरिया से लागी प्रीति।
रैन दिन मोहे चैन परे नहिं उलट भई सब रीति ॥
कहा कहौ कहँ जाउँ सखी री कैसे बनी अब बीति।
देवनाथ प्रभुनाथ निरंजन निश दिन गावे गीत ॥

दयालनाथ—ये देवनाथ के शिष्य थे। इनकी हिन्दी रचना की कतिपय पंक्तियाँ ये हैं—

जरा हँस हँस वेणु बजाओ जी, तुम्हें दुहाई नंदचरण की
लटपट पेंच मुकुट पर छूटे हंसि आवत तोरे लटकन की
घूँघट खोल दरस मोहि दीजे चोट चलाओ नयना पलकन की
सब बनिता विरहन की मारी, वृत्ति विकल भव छुन मन की
देवनाथ प्रभु दयालु तुम ही, आस लगी पद सुमिरन की।

महीपतिनाथ—इनका काल शके १७४५ है। हिन्दी रचना का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

धीरे धीरे झूलो जी नंदलाल ॥
वर्षा ऋतु सावन का महीना, गावो राग मल्हार
तुम सुकुमार कुँवर कन्हैया, ऊँची कदंब की डार।
पवन छूटे बिजली चमके, उड़त कांधे रुमाल
नरहरि महापति गावें नाचे, सब संग ग्वाल गोपाल ॥

महाराष्ट्र संतों की हिन्दी-रचना का प्रारम्भ चंद बरदाई से भी पहले हो चुका था। अतएव उसमें हिन्दी के क्रमिक विकास का भी आभास मिलता है। सन्तों की रचनाओं के अधिकांश उदाहरणों के लिए लेखक श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव जी का कृतज्ञ है।

---

१६. मराठी नाट्यकला और रंगभूमि

मराठी नाट्य कला और रंगमञ्च का इतिहास अति प्राचीन है। मराठी साहित्य का प्रारम्भ १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से माना जाता है। उसके आदि-कवि मुकुन्द राजा ने 'विवेक-सिन्धु' की सन् ११८८ में रचना की थी। मराठी के अमर सन्त ज्ञानदेव की 'ज्ञानेश्वरी' सन् १२९० में लिखी गई। ज्ञानेश्वरी में दारु-यन्त्र, नट-नटी, कल सूत्री पुतलियाँ, सूत्रधार आदि का उल्लेख मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि 'ज्ञानेश्वरी' की रचना के बहुत पहिले से सूत्रधार काठ की पुतलियों और कपड़े की गुड़ियों के द्वारा विचित्र प्रकार के खेलों की योजना करता था। सूत्रधार परदे की ओट में खड़ा रहता और सूत्र-कौशल से कठपुतलियों के माध्यम द्वारा पौराणिक कथाओं को प्रस्तुत कर जनरञ्जन किया करता था। विश्वनाथ पाण्डुरंग दांडेकर अपने 'पौराणिक नाटकें' में लिखते हैं, "इसमें संदेह नहीं ज्ञानेश्वर-काल से ही मराठी रंगभूमि की नींव डाली गई और यह कार्य ललित, गोंधल, तमाशा और बहुरूपियों के स्वांगों की सहायता से संपन्न हुआ।" जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, हमारा अनुमान है कि इन नाट्य-प्रकारों का प्रचलन ज्ञानेश्वर से भी पूर्व जनता में रहा होगा तभी ज्ञानेश्वर ने उन्हें उपमा, रूपक आदि अलंकारों में प्रयुक्त किया। यद्यपि ये नाट्य-प्रकार कर्नाटक में प्रचलित नाट्य-प्रकारों से अनुप्राणित हैं तो भी महाराष्ट्र में उनका इतना रूपान्तर हो गया है कि इन्हें सर्वथा मराठी रंगभूमि के स्वतंत्र अंग कहा जा सकता है। यहाँ हम मराठी रंगभूमि के स्रोतों—ललित, गोंधल, तमाशा, बहुरूपिया आदि की व्याख्या करना चाहते हैं।

श्री गणेश रंगनाथ दंडवते "अपनी महाराष्ट्र नाट्य कला व नाट्य वाङ्मय" में ललित की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखते हैं—"१६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दादोपंत नामक मराठे ने ललित का सर्व प्रथम जनता के सामने प्रदर्शन किया।" इसका आशय यह है कि ललित नामक नाट्य-कला बहुत पुरानी

नहीं है परन्तु इसके विरोध में महाराष्ट्रीय ज्ञान कोशकार का कथन है कि ललित नामक नाट्यकला महाराष्ट्र में बहुत प्राचीन है। धार्मिक उत्सवों विशेषकर नवरात्र के अन्तिम दिन इसे अवश्य खेला जाता था। दांडेकर भी मराठी नाट्य-सृष्टि खंड १ में महाराष्ट्रीय ज्ञानकोशकार का समर्थन करते हैं। तुकाराम के अभंगों में ललित का उल्लेख है। (गलित झाली काया। हेंच ललित पंढ़री राया) और तुकाराम का काल १७वां शताब्दी असंदिग्ध है। ललित का अर्थ शास्त्रीय कोष में इस प्रकार दिया गया है, "नवरात्र आदि धर्म सम्बन्धी कीर्तन-समारोह जिसमें ईश्वर भक्तों के स्वांग लेकर व्यक्ति देव-प्रसाद ग्रहण करते हैं और सब सभासदों को वितरित करते हैं।" मराटी में सबसे पहिले पौराणिक नाटकों का प्रणयन हुआ है जिनका बीज हमें ललित नामक नाट्य कला में मिलता है। हिन्दी पाठक के लिए यह कम कुतूहल की बात नहीं है कि सत्रहवीं शताब्दी में भी महाराष्ट्र प्रान्त में ललित के स्वांग हिन्दी गद्य में खेले जाते थे। हम बालकृष्ण लक्ष्मण पाठक के 'ललित संग्रह' नामक ग्रंथ से एक ललित-स्वांग का थोड़ा सा उद्धरण दे रहे हैं—(**छड़ीदार का स्वाँग आता है और वह बोलता है**)

छड़ीदार :— निर्गुण निराकार जिनका सृष्टि कूं आधार, जिनकी नीति से वेद बने चार, उस साहब कूँ मुजरा करूं; नजर रखो महेरबान, साधु संत सुजान मेरे जुबान पर रखो ध्यान. कहे बंदा रामजी अज्ञान, सब साधु सज्जन कूं मुजरा करूं। ऐसे महाराज निर्गुण निराकार, उन्ने लिए दश अवतार, किया दुष्टन का संहार, वो दीनोद्धार महाराज हैं, मेहेरबान सलाम।

पाटील :—आप कौन हो ?

छड़ीदार :—हम छड़ीदार, पोशाक पेना जड़ी जरतार...गले में डाला भाव मोतन का हार। ज्ञान ध्यान की बाँधो तलवार...भगवान के नाम की पुकारूं ललकार, ये ही हम छड़ीदार कहलाते हैं।

पाटील :—तुमने कहाँ नौकरी बनाई ?

छड़ीदार :— दश अवतार में।

पाटील :—कौन से दश अवतार में ?

छड़ीदार :—मच्छ, कच्छ, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, श्रीकृष्ण, बौद्ध, कलंकी ऐसे महाराज के दश अवतार में नौकरी बनाई।

इसके बाद छड़ीदार दशों अवतारों के गुण वर्णन करता है। छड़ीदार के बाद भालदार का प्रवेश होता है। वह इस प्रकार बोलता है—)

भालदार—"अर्ज सुनिये महाराज, आप गरीब निवाज, मालक सबके सिरताज, लाज रक्खो दास की; नजर रक्खो मेहर की। खाया चौरासी का फेर, देख आया दाम से मेर......आदि।"

इस तरह के स्वांगों से सभी प्रेक्षकों का मनोरंजन नहीं होता था। इसलिए दूसरे व्यक्तियों की नकल करने वाले स्वांग भी लाये जाते थे। जब पण्डित जी (कथाकर) का स्वांग आता तो वे संस्कृत, मराठी, हिन्दी, आदि मिश्रित भाषा बोल उठते थे जिससे श्रोता हँसकर लोट पोट हो जाया करते थे।

मराठी रंगमञ्च का दूसरा मूल स्रोत गोंधल है। गोंधल का अर्थ अव्यस्थितपन – गड़बड़ी—होता है। देवी अम्बा भवानी के सम्मान में किये जाने वाले विशिष्ट पद्यमय नृत्य को गोंधल कहते थे। बाद में वीरों के पराक्रम-गीत, (पोआड़े) सामयिक नकल आदि की खिचड़ी गोंधल कही जाने लगी। मुख्य नक्काल भी 'गोंधल' कहलाता है। इसमें पहिले पाटिल बुआ और गोंधल के बीच गद्य में थोड़ा संवाद होता। फिर गोंधल किसी कथा को जी, जी की धुन में गाता—

> **"एक सौदागर राणी राणी जी जी**
> **तिचें नांव जायाराणी जी जी**
> **जायाराणी ने सिणगार केला जी जी**
> **गलयां नवरत्नाचां हार जी जी"—आदि**

विवाह और अन्य उत्सवों के समय गोंधल खेलने की अधिक प्रथा थी। विवाह होने पर मण्डप के नीचे एक चोली का खन (**वस्त्र**) बिछा दिया जाता था। उस पर अक्षत छिड़ककर पानी का कलश रखा जाता था। और कलश पर आम्रपत्र। उस पर देवी की मूर्ति प्रतिष्ठित कर मुख्य गोंधल अपने दो चार साथियों सहित सामने मशाल लेकर बैठता था। और तब देवी की स्तुति

पोआड़े आदि झाँझ—बाजों के साथ गाये जाते थे। कभी-कभी किसी के अंग में देवी भी संचरित हो जाया करती थीं। गोंधल के साथ सामयिक प्रसंगों पर नकलें भी हुआ करती थीं।

मराठी नाट्यकला का तीसरा स्रोत बहुरूपिया है। उदर-पूर्ति के लिये गाँव-गाँव डोलने वाले बहुरूपियों ने महाराष्ट्र में ही नहीं, उत्तर और दक्षिण भारत के कई भागों में अपने स्वांगों से जनता का मनोरंजन किया है और आज भी उनका अस्तित्व लुप्त नहीं हो गया है। मुगल बादशाहों के दरबारों में बहु-रूपियों की बड़ी आव-भगत होती थी।

मराठी रंगभूमि की चौथी आदि कड़ी 'तमाशा' है। तमाशा उर्दू का पर्याय खेल नहीं है। महाराष्ट्र नाट्यकला में उसका विशिष्ट अर्थ है। 'तमाशा' में स्वांग लेकर नाचनेवाला स्त्री वेशधारी पुरुष पहिले सामने आता है, उसके पीछे डफली, मँजीरे आदि लेकर दो पुरुष चलते हैं। इनके साथ कड़ा बजाने वाला एक पुरुष और होता है। तमाशा में लावनियाँ गायी जाती हैं, जो प्रायः शृङ्गारिक हुआ करती हैं। तमाशों में "नचनियाँ" को छोड़कर और किसी पात्र के 'मेकअप' (**सजाने**) की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। शेष पात्र अपनी मामूली पोशाक में रहते थे। 'तमाशा' में गद्य कम, पद्य अधिक रहता था। तमाशा देखने के लिये जनता बड़ी दूर-दूर से एकत्र हुआ करती थी। पूना के पेशवे भी तमाशा देखते थे। महाराष्ट्र में तमाशा का प्रवेश केरल प्रान्तीय कथा-कली से जान पड़ता है। तमाशा में कथाकली के समान अभिनय, संगीत और नृत्य उपकरण होते हैं। परन्तु कथाकली का अभिनय सांकेतिक और तमाशा से उच्चकोटि का होता है। कथाकली में कथानक पौराणिक और तमाशा में प्रायः ऐहिक और शृंगारिक होता है। महाराष्ट्र में आज भी कई थियेटरों में तमाशा दिखाया जाता है और दर्शक अपनी प्राचीन नाट्य कला का प्रसन्नता के साथ आस्वाद लेते हैं। तमाशा में पहली बार पुरुष स्त्री-पात्र के रूप में सम्मुख आता है। मराठी रंगमञ्च में तमाशा की यह एक विशेषता समझी जाती है। **(इसे रंगभूमि को तमाशा की देन भी कह सकते हैं। यों आज अनेक थियेटरों में स्त्री-पात्र की भूमिका स्त्री ही के द्वारा सम्पन्न होती है)** तमाशा खुले मैदान

में किसी चबूतरे पर या मन्दिर के सामने किये जाते थे। ललित, गोंधल और तमाशा में स्वांग लाये जाते और गीत भी गाये जाते हैं परन्तु इनमें परस्पर थोड़ा अन्तर है। ललित में पौराणिक-कथाओं पर स्वांग रचे जाते हैं, तमाशा और गांधल में सामयिक घटनाओं को लेकर स्वाँग और नकलें की जाती हैं। गांधल के समान 'भराड़ी' और चित्रकथी भी आमोद के साधन थे। भराड़ी भैरवनाथ के भक्त कहलाते हैं। ये खञ्जरी, मँजीरे के साथ 'पोआड़े' गाते हैं। इस तरह हम देखते हैं, महाराष्ट्र में नाट्यकला के अंकुर सर्वथा 'मराठी' हैं। उनका अपना स्वतंत्र जातीय ढंग है। फिर भी महाराष्ट्र के नाट्यकला समीक्षक कर्नाटक के सांस्कृतिक ऋण को कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करते हैं। महाराष्ट्रीय पुराण-भक्त होने के कारण राम और कृष्ण का अहर्निश जाप तो करते ही हैं, सूर, तुलसी, मीरां के पदों को भी बड़े चाव से गाते हैं। पर अपने मनोरंजन के साधनों में उन्होंने रामलीला और रासलीला को सम्मिलित नहीं किया। इसके विपरीत, **हिन्दी रंगमंच रामलीला, रासलीला और नौटंकी से प्रारम्भ होता है।**

मराठी रंगभूमि का उदय—सन् १८४३ में सांगली के विष्णुदास भावे ने सीता स्वयंवर नामक पहला मराठी नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किया। सांगली में कर्नाटक की भागवत नामक नाट्यमण्डली प्रायः आती रहती थी। उस समय वहाँ के राजा चिन्तामण राव ने भावे को मराठी में नाटक लिखने के लिये प्रोत्साहित किया। भावे की नाटक रचना अपनी विशेषता रखती है। मराठी साहित्य में इन्हें महाराष्ट्र का भरत कहते हैं। क्योंकि भावे ने संस्कृत के नाट्याचार्य भरत मुनि के सूत्रों को ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया; अपने ही ढंग से इन्होंने नाट्य रचना की है। यद्यपि नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार का प्रवेश होता है फिर भी इसकी कल्पना संस्कृत नाटकों से सम्बन्ध न रखकर महाराष्ट्र में प्रचलित सूत्रधारी पुतलियों के खेल से ली गई प्रतीत होती है। भावे की नाट्य प्रणाली की चर्चा करते हुए 'मराठी रंगभूमि' कार लिखते हैं, "पहले सूत्रधार रंगभूमि के पर्दे के बाहर खड़ा होकर ताल स्वर में मंगलाचरण गाता था, फिर वनचर के वेष में विदूषक आड़े टेढ़े ढंग से नाचता हुआ आता था इसके बाद सूत्रधार और विदूषक में विनोद पूर्व संभाषण होता था

जिसमें होने वाले नाटक की सूचना भी दर्शकों को दे दी जाती थी। गजानन महाराज की स्तुति होने के बाद पर्दा उठता था। पर्दा उठने पर सूत्रधार गजानन महाराज की वन्दना करता और नाटक में विघ्नों के परिहार की प्रार्थना करता था। गजानन महाराज "नाटक का कार्य निर्विघ्न समाप्त होगा" कहकर आशीर्वाद देते थे और तब पर्दा गिर जाता था। इसके पश्चात् सरस्वती का स्तवन होता था, उससे पात्रों में वक्तृत्व-शक्ति का वर माँगा जाता था। सरस्वती के वर प्रदान करने के बाद ही नाटक का प्रारंभ होता था। सबसे पहिले सूत्रधार पद्य में नाटक की प्रारम्भिक कथा-भाग का वर्णन करता था, अन्त में रंगभूमि पर पात्रों का प्रवेश होता था। पात्र, बोलते-बोलते "कहता हूँ सुनो" कहकर रुक जाते थे और सूत्रधार पद्य गाकर पात्र के मनोभावों को व्यक्त करता था। नाटक पौराणिक होते थे अतः देव पात्र और राक्षस पात्र का संघर्ष उनमें प्रधान होता था। यद्यपि पात्रों के भाषण (**कथोपकथन**) बहुत कुछ अंश में तैयार रहते थे फिर भी कथा प्रसंग के अनुसार समय स्फूर्ति से पात्र कुछ संवाद स्वयं गढ़कर बोलते थे। राक्षस वेशधारी पात्र जोर से चिल्लाकर बोलते और तलवार घुमाकर वीरश्री व्यक्त करते थे। देव पात्र भाषणों में आवेश लाकर अपना तेज प्रकट करते थे, स्त्री पात्रों के संभाषणों में शृंगार और करुण रस रहता था—करुण रस की मात्रा सबसे अधिक होती थी, वे दीर्घ स्वर में "शिव, शिव हे शंकरा" यह कहकर धरती पर गिर पड़ती थीं और इस तरह प्रेक्षकों में करुणा का संचार करती थीं। ऐसे प्रसंगों पर सूत्रधार पात्रों की मनोदशा का पद्यों में चित्रण करता था। सूत्रधार को गायन-वादन की सामग्री के साथ प्रारम्भ से अन्त तक रंगभूमि पर तैयार रहना पड़ता था। रंगमंच पर दो चार कुर्सियाँ रखी रहती थीं जिन पर राक्षस और देव पात्र समय-समय पर आसीन हो जाते थे। विदूषक के हमेशा रंगमञ्च पर रहने के कारण वह आवश्यक वस्तुओं को लाने ले जाने का कार्य करता था। यदि किसी पात्र के आने में विलम्ब दीखता तो वह मंच पर उपस्थित पात्र से ही विनोदपूर्ण गपशप मारता रहता। यदि किसी स्त्री पात्र के कान या हाथ से कोई आभूषण गिर जाता तो उसे उठा देने का काम भी विदूषक का होता था।

विदूषक चाहे शोक का प्रसंग हो, चाहे हर्ष का, हँसाने का ही काम करता है। पात्रों के भाषण हाथ से लिखे जाते थे और उन्हें खूब रटाये जाते थे। राक्षसों को भयंकर बनाने के लिये उनके चेहरे पर काला और तामिया रंग चढ़ाया जाता था, मुँह पर हाथी दाँत लगाये जाते थे, कमर धोती से कसी जाती थी और तलवार घुमाते हुए मञ्च पर उनका प्रवेश होता था। तलवार के हाथ वे इतनी सफाई से फेरते थे कि उसे देखने के लिये यूरोपियन तक आते थे। देव पात्रों को मुद्रा सौम्य होती थी—कन्धों पर दोनों ओर केश लटकते थे, मुख पर श्वेत रंग झलकता था; मस्तक पर किरीट शोभित होता था। गणपति के मुख पर कागज की बनी हुई सूंड भी लगा दी जाती थी। संभाषणों में लम्बे वाक्य और अधिकांश संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते थे।

उस समय नाट्य गृह की रचना नहीं हुई थी। सार्वजनिक मन्दिर या किसी अहाते के चौक में नाटक खेले जाते थे। मञ्च पर एक ही परदा होता था और उसका रंग प्रायः काला होता था। परदे के पीछे ही पात्र अपना मेकअप करते थे और नाटक प्रारम्भ होने पर प्रसंगानुसार पर्दे के सामने आते थे। भावे के नाटकों का अभिनय देखकर साँगली के आस-पास पाँच-सात नाटक मण्डलियाँ स्थापित हो गई थीं जिनमें कोल्हापुरकर, इचता करंजीकर आदि मण्डलियाँ प्रसिद्ध हैं। इन मण्डलियों के कई पात्र भावे द्वारा तैयार किये गये थे। इसी समय पारसी नाटक कम्पनियों का देश में अच्छा प्रचलन हो रहा था, मराठी नाटक कम्पनियों ने पारसी नाटक कम्पनियों से पर्दों में सुधार करना तो सीखा पर अपनी पौराणिक नाटक-परम्परा को ज्यों का त्यों कायम रखा। पच्चीस वर्ष तक महाराष्ट्र में पौराणिक नाटकों की खूब धूम रही। सन् १८६१ में भावे के आश्रयदाता राजा चिन्तामण राव का देहान्त हो गया। तब भावे ने अपनी नाटक मण्डली को महाराष्ट्र के भिन्न-भिन्न नगरों में ले जाने का क्रम जारी कर दिया। बम्बई में बादशाही नामक एक थियेटर को उन्होंने पाँच सौ रुपये प्रति रात के हिसाब से किराये पर लिया था और बड़ी धूमधाम से अपने नाटकों का प्रदर्शन किया था। सन् १८७५ तक भावे-शैली के पौराणिक नाटकों का प्रचार अस्तप्राय हो चुका था। बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात् महाराष्ट्र

में शिक्षितों की संख्या बढ़ने लगी और अंगरेज़ी, संस्कृत नाटक अनुवादित होकर अभिनीत होने लगे।

पौराणिक नाटकों का लक्ष्य प्रारम्भ में लोकरञ्जन मात्र था। परन्तु जनता का मनरंजन उन नाटकों में होने वाली अस्वाभाविक धींगा-धींगी से नहीं होता था। पौराणिक नाटकों में इस समय 'फार्स'—प्रहसन का भी समावेश किया गया। इस समय भी मराठी रंगमञ्च के लिये उत्तम नाट्य गृह, दृश्य और पर्दों की योजना नहीं थी। कीर्तने मराठी का पहिला नाटककार है जिसने भावे के पौराणिक नाटकों का युग समाप्त कर स्वतन्त्र नाटक रचना का युग प्रारम्भ किया। उसने नाटकों की भाषा में गद्य का प्रचुर प्रयोग कर नाट्यकला की नूतन परम्परा आरम्भ की। कीर्तने के बाद महाजनी ने गद्य नाटकों की सृष्टि की। इचलकरंजीकर नामक नाटक मण्डली ने गद्य-नाटकों का अभिनय कर बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। इस समय शेक्सपियर के नाटकों का मराठी नाटककारों पर प्रभाव पड़ रहा था। सन १८७९-८० के लगभग पूना में आर्योद्धारक नाटक-मण्डली की स्थापना हुई जिसने शेक्सपियर के गद्य में अनूदित नाटकों का सफलता के साथ अभिनय किया। मराठी रंगमंच के इतिहास में इस नाटक-मण्डली की स्थापना विशेष महत्व रखती है। गोविन्दराव देवल, शंकरराव पाटकर इस कम्पनी के कुशल नट थे। 'ओथेलो' की भूमिका में देवल का अभिनय अपूर्व होता था। मराठी रंगमंच समीक्षकों का कहना है कि देवल के समान कुशल नट आज तक मराठी रंगमंच पर नहीं आया। आर्योद्धारक नाटक मण्डली के कार्यकर्ता पेशेवर नट नहीं थे। इसलिये कुछ समय बाद यह कम्पनी समाप्त हो गई। इसी समय शाहू नगरवासी नाटक मण्डली का प्रादुर्भाव हुआ जिसने गद्य नाटकों का महाराष्ट्र में बहुत अधिक प्रचार किया। पच्चीस वर्ष तक इस नाटक मण्डली ने महाराष्ट्र की अखण्ड सेवा की। इचलकरंजीकर कम्पनी 'तारा', आर्योद्धारक मण्डली 'ओथेलो' और शाहू नगरवासी नाटक मण्डली 'त्राटिका' नाटक की अभिनय श्रेष्ठता महाराष्ट्र भर में प्रसिद्ध रही है।

सन् १८८०-८१ का वर्ष महाराष्ट्र के आधुनिक इतिहास में विशेष महत्व रखता है। इसी समय पूना के केसरी, मराठा और न्यू इंग्लिश स्कूल का जन्म

हुआ। मराठी रंगभूमि पर संगीत नाटकों के प्रवेश का भी यही समय है। पूना में ३१-१०-१८८० को किर्लोस्कर के शाकुन्तल नाटक का प्रथम बार अभिनय हुआ, जिसमें संगीत का योग होने से प्रेक्षक रसमग्न हो झूम उठे थे। नाटककार अण्णा साहब किर्लोस्कर ने स्वयं सूत्रधार की भूमिका में रंगभूमि में प्रवेश किया। राजा दुष्यन्त हरिण के पीछे दौड़ रहे हैं। इसी समय हिन्दी में संगीत की ध्वनि रंगमंच पर गूँज उठती है, जिसकी टेक यह है—

"दौरत है मृग चली आपकी मूरत धनुक चढ़ाके"

दर्शकों में स्तब्धता छा जाती है। किर्लोस्कर नाटककार के साथ-साथ कवि और नट भी थे। यद्यपि किर्लोस्कर के पूर्व भी संगीत नाटकों की सृष्टि हो चुकी थी तो भी उसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय किर्लोस्कर को ही है। इन्होंने मराठी रंगभूमि को अर्वाचीन रूप देने का प्रथम बार यत्न किया; गजानन, सरस्वती, विदूषक नामधारी पात्रों को बिदा कर दिया और नाटक के प्रारम्भ में सूत्रधार को अपने दो साथियों के साथ रंगभूमि पर लाने का नया उपक्रम जारी किया। सूत्रधार और उसके साथियों के बाद नटी रंगमंच पर आती है और उनका संवाद होता है। इतनी भूमिका के बाद नाटक का प्रारम्भ होता है। पात्रों की वेशभूषा में भी सुधार किये गये। भावे-शैली के पौराणिक नाटकों के हरिश्चन्द्र, नल, दुष्यन्त आदि पात्र किरीट, कुण्डल भुजबन्द आदि से सज्जित किये जाते थे; किर्लोस्कर ने इन्हें वर्तमान राजघराने के राजपुरुषों के समान वेशभूषा से अलंकृत किया। कृष्ण के चार हाथ न रखकर दो ही हाथ रखे और उनके शिर से किरीट और कानों से कुण्डल हटा दिये। राक्षस पात्रों की वेशभूषा भी बदल डाली। अंगरेजी नाटकों के 'बफून' या सरकस के जोकर के समान उनकी वेशभूषा बना दी और उनके संभाषणों से गरज-तरज हटाकर उन्हें सामान्य मनुष्यों की बोली और लहजा प्रदान किया। दृश्यों में वन, उद्यान और प्रासाद के अतिरिक्त ऋषि-आश्रम पर्वत गुफा कारागार आदि के सश्रम तैय्यार किये गये दृश्य भी उपस्थित किये गए। गौण होने पर भी किर्लोस्कर के ये सुधार महत्त्व रखते थे। सन् १८८५-८६ से महाराष्ट्र में नव जागरण और नव-चेतना का स्पन्दन दिखाई देता है। लोकमान्य तिलक, आगरकर, आपटे, केशव सुत, राजवाड़े आदि

महाराष्ट्र के देश प्रसिद्ध व्यक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। कोल्हापुर के राजाराम कालेज के अंग्रेज प्रिंसिपल ने मराठी रंगमंच को विशेष प्रोत्साहन दिया। कालेज के प्राध्यापक और छात्र नाटकों को लिखते और खेलते थे। के० डी० साहब प्रतिवर्ष मौलिक मराठी नाटकों पर पुरस्कार भी देते थे। खरे कृत 'गुणोत्कर्ष' और देवल कृत 'दुर्गा' उन्हीं के द्वारा पुरस्कृत नाटक हैं। प्रतियोगिता की शर्तों के अनुसार उनमें स्त्री पात्रों की कमी है और ये तीन घंटों में मंच पर खेले जा सकते हैं। इनसे मराठी रंगभूमि को नूतन दिशा प्राप्त हुई। उनका 'दुर्गा' नाटक मराठी में सांसारिक नाटक कहलाता है।

बम्बई की डोंगरे नाट्य मण्डली संगीत-नाटकों का अभिनय किया करती थी। उसके 'संगीत शकुन्तला' और 'संगीत इन्द्रसभा' नाटकों की बड़ी ख्याति थी। इन्द्रसभा का प्रदर्शन नृत्य और गायन के साथ होता था। इस कम्पनी में गजानन बुआ का स्त्री पार्ट अपूर्व होता था। डोंगरे के समान वाईकर कम्पनी ने भी रागबद्ध संगीत नाटकों के अभिनय में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। नाट्यानंद कम्पनी भी अपने समय में काफी प्रसिद्ध रही है। इसी मण्डली ने देवल का 'संगीत-मृच्छकटिक' नाटक सफलता के साथ खेला था। किर्लोस्कर के बाद कुछ समय तक मराठी में गद्य-नाटकों का प्रचलन रहा परन्तु प्रतीत होता है, महाराष्ट्र जनता में संगीत प्रियता अधिक होने के कारण देवल को संगीत नाटक लिखने के लिये प्रवृत्त होना पड़ा। देवल ने नाटक की गद्य और पद्य भाषा दोनों की ओर विशेष ध्यान दिया। इनके समान सरल और ताल-बद्ध भाषा आज तक नहीं लिखी गई।

सन् १८९५ से कोल्हटकर ने मराठी रंगमंच पर आधिपत्य प्राप्त किया। इनके 'वीर तनय' नामक नाटक की बड़ी ख्याति है। इसका कथानक कल्पित है और गुम्फन शेक्सपियर तथा मोलियर के समान पाश्चात्य नाट्यकारों की रचना-शैली पर है। संवाद चटपटे हैं, विनोद प्रचुर है और काव्यात्मकता भी। सामाजिक दोषों का निदर्शन भी इसमें पाया जाता है। इनके 'जन्म रहस्य' नाटक का रचना-तन्त्र इतना आधुनिक है कि उसे पढ़ते समय इब्सन की याद हो आती है। रंगभूमि से सूत्रधार और नटी का बहिष्कार कोल्हटकर ने सबसे प्रथम

किया । गड़करी के शब्दों में "कोल्हटकर अपने समय से सौ वर्ष पूर्व अवतीर्ण हुए थे।" कोल्हटकर ने अपने नाटकों के पद्य की टेक बम्बई की पारसी और गुजराती नाटक मण्डलियों से ग्रहण की। इस समय किर्लोस्कर नाटक मण्डल की बड़ी धूम थी। उसने किर्लोस्कर के 'संगीत वीर तनय' का सफलता के सा अभिनय किया था। सन् १९०५ से १९१५ तक का समय खाड़िलकर का युग माना जाता है। खाड़िलकर ने यद्यपि पौराणिक नाटकों की रचना की है तो भी उनमें सामयिक राजनीतिक समस्याओं और घटनाओं की ध्वनि होने के कारण वे अधिक जन-प्रिय हुए। सन् १९१५ से १९२५ तक मराठी रंगमंच पर गड़करी को धूम रही। इनका 'राज-सन्यास' 'वेड्याचा-बाजार' 'एकच प्याला', नाटक काफी प्रसिद्ध हैं। अद्भुत रम्य कल्पनाशीलता और विनोद वैशिष्ट्य के कारण गड़करी की कला के प्राण हैं।

महाराष्ट्र में किर्लोस्कर नाटक मण्डली के बाद यदि किसी को अत्यधिक ख्याति प्राप्त हुई है तो वह है गन्धर्व नाट्य मण्डली। नारायण श्रीपाद राजहंस उर्फ 'बाल गंधर्व, गोविन्द राव टेंभे, गणपत राव बोड़स, पंढरपुरकर बुआ जैसे नटों ने जिस नाटक का अभिनय किया, उसी में चार चाँद लगा दिये। इस कम्पनी ने किर्लोस्कर, देवल, कोल्हटकर, खाड़िलकर, गड़करी आदि प्रसिद्ध नाटककारों के नाटकों का अभिनय कर सारे महाराष्ट्र में नाटक-प्रेमियों की संख्या में अभिवृद्धि की। लेखक ने इस कम्पनी द्वारा प्रदर्शित गड़करी के नाटकों का अभिनय देखा है जिसकी स्मृति बीस-बाईस वर्ष के बाद आज भी हरी बनी हुई है बाल-गंधर्व वसंत सेना की भूमिका में खूब खिलते थे। महाराष्ट्र की तरुणियाँ उनकी केश-रचना, भाव-भंगी आदि का अनुकरण करने लगीं थी। इस नट के चरित्र और शील की आज भी घर, घर प्रशंसा होती है।

सन् १९२५ से १९३५ तक का काल वरेरकर के नाटकों की धूम को लेकर चलता है। 'हांच मुलाचा थाप' इनका सामाजिक नाटक है जिसमें मोलियर की विनोदशीलता स्थल स्थल पर झलक उठती है। दहेज-प्रथा के अभिशाप को इसमें दर्शाया गया है। वरेरकर में प्रगतिशीलता अधिक पायी जाती है। इनमें इब्सन और शॉ का वास्तविकवाद प्रतिबिंबित है। वरेरकर के बाद

१९४५ तक अत्रे ने मराठी रंगमंच का नेतृत्व ग्रहण किया। अत्रे में विनोद-चतुरता (चाहे वह बाजारू ही क्यों न हो) खूब है। अपने समय के किसी भी विडम्बन योग्य व्यक्ति, उक्ति, अथवा प्रसंग को उन्होंने अपने नाटक की सामग्री बनाने में झिझक नहीं दिखलाई। शब्द-चमत्कृति ही अत्रे की विशेषता है। अत्रे की कला पर खांडेकर ने एक जगह लिखा है, "रस-परिपाक की अपेक्षा शब्द चमत्कृति पर ज़ोर देने वाला काव्य जिस प्रकार अधम श्रेणी का जान पड़ता है उसी प्रकार शब्द चमत्कृत प्रधान नाटक भी।"

१९४१ से रांगणेकर ने मराठी रंगमंच पर अधिकार जमा रखा है, जो अभी तक जारी है। रांगणेकर प्रेक्षकों को 'येन केन प्रकारेण' गुदगुदाने का यत्न करते हैं। उनका रचनातन्त्र चित्रपट के ढंग का होता है। नृत्य और गायन की योजना भी उनमें होती है। संभाषणों में असम्बन्ध विनोद अखर उठता है। रांगणेकर का दावा नवीन तंत्र के **'action plays'** लिखने का है परन्तु उनमें तीन घंटे के हँसी मज़ाक के अलावा कुछ प्राप्त नहीं होता। इनकी अपनी नाट्य-निकेतन नामक संस्था है जिसकी प्रसिद्ध नटी ज्योत्स्ना भोले है। यह अपने मधुर गायन से प्रेक्षकों का मनोरंजन करती रहती है।

यद्यपि मराठी रंगभूमि का जन्म ललित, गोंधल, तमाशा आदि लोक स्वाँगों से हुआ है तो भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उस पर कालि-दास, शूद्रक शेक्सपियर, मोलियर इब्सन, शॉ आदि का थोड़ा-बहुत प्रभाव भी पड़ा है। कर्नाटकी, पारसी (उर्दू) और गुजराती रंगमंच का भी किंचित असर दिखाई देता है। कोल्हटकर, खाडिलकर ने मोलियर और शेक्सपियर को आधार मानकर जब मराठी नाटकों की रचना की तो उनका स्वरूप एक प्रकार की खिचड़ी बन गया। उस समय के नाटकों में देश-काल का विचार न कर हास्य का प्रयोग होने लगा जिससे कृत्रिमता बढ़ गई और संयम तथा सौन्दर्य की दृष्टि तिरोहित हो गई। बरेरकर ने इब्सन के रचनातन्त्र को अपना कर इन दोषों का परिहार किया।

मराठी-नाटकों में संगीत की बड़ी महिमा है। किर्लोस्कर और देवल ने नाटकों में जो संगीत की प्रथा प्रचलित की उसका सर्वथा लोप नहीं हो गया।

लावनियों के बाद गजलें चलीं और अब भावगीत (Lyrics) की धूम है। कोल्हटकर और खाड़िलकर के युग में भाव-शून्य पद तक रंगभूमि पर गाये जाते थे।

चित्रपट के प्रचलन ने मराठी रंगमंच को भी ठेस पहुँचायी है। उ॰ प्रेक्षकों की अभिरुचि बदल दी है।

मराठी रंगमंच पर उच्चकोटि के नट घटते जा रहे हैं। उसमें कला ‥ आदर्श क्षीण होता जा रहा है। पिछले कुछ वर्षों से देश की राजनीति आर्थिक और सामाजिक घटनाओं पर अधिष्ठित नाटकों की सृष्टि अधिक हो॰ लगी है। कुछ नाटकों में गति और संवाद-वैशिष्ट्य भी पाया जाता है। पर बहुत नाटकों में निष्प्राण प्रचार-वृत्ति है। जीवन को देखने के विशिष्ट दृष्टिको का अभाव चिन्तनीय है। श्री वि॰ द॰ साठे के शब्दों में "उनमें केवल धनि और उच्च मध्यम वर्गीय समाज का चित्रण मिलता है। उनमें बहुसंख्य जनता की आस्था जमने योग्य कहीं कुछ नहीं है।"